स्वराज पार्टी

सलिल मिश्रा

चित्रकार

बी. सामत

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-2163-3

पहला संस्करण : 1997 (शक 1919)

SWARAJ PARTY (Hindi)

रु. 8.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क,
नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

विषय सूची

1. उदय 'स्वराजवाद' का : गठन स्वराज पार्टी का

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ एक लंबा संघर्ष था। आजादी की यह लड़ाई अलग अलग समय में अलग अलग ढंग से लड़ी गई थी। इस लंबी लड़ाई में 'स्वराजवाद' का उदय राजनीतिक परीक्षण के तौर पर हुआ था।

'स्वराजवाद' से मतलब राष्ट्रीय आंदोलन के अंदर ऐसे रुझान से है जिसने कौंसिल प्रवेश की, राष्ट्रीय आंदोलन के एक हिस्से के रूप में, वकालत की। 1923 में स्वराज पार्टी के गठन से इस रुझान को संगठनात्मक रूप मिला। इस पार्टी के मुख्य नेता मोतीलाल नेहरू और चितरंजन दास थे।

यूं तो जब से अंग्रेजों ने भारत में पांव जमाने शुरू किए, उनके खिलाफ किसानों और जनजातियों के छुटपुट स्थानीय संघर्ष होते रहे। फिर 1857 का विद्रोह अंग्रेजी प्रभुता के खिलाफ पहला संगठित प्रयास था जिसने भारत में अंग्रेजी शासन की ज़ड़ें हिला दीं। अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रीय आंदोलन की नींव २1885 में पड़ी, जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। 1885 का वर्ष भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की शुरुआत का वर्ष था। इस वर्ष से शुरू हुई अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ एक लंबे अहिंसात्मक, संगठित संघर्ष की प्रक्रिया, जिसकी परिणति 1947 में देश की आजादी के साथ हुई। इसी राष्ट्रीय आंदोलन की कोख से जन्म हुआ था स्वराज पार्टी का।

स्वराज पार्टी का जन्म कांग्रेस के भीतर ही हुआ था। इसकी गतिविधियां कांग्रेस की गतिविधियों का एक हिस्सा थीं। अंततः कांग्रेस में ही इसका विलय भी हो गया था। यहां सवाल उठता है कि कांग्रेस के होते हुए कांग्रेस के भीतर एक और पार्टी की जरूरत क्यों

महसूस हुई? इसे जानने के लिए स्वराज पार्टी की स्थापना की पृष्ठभूमि को समझना जरूरी है। और स्वराज पार्टी की पृष्ठभूमि समझने के लिए दो पहलुओं पर चर्चा आवश्यक है।

* भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद की प्रकृति, विशेष तौर पर 1919 में घोषित किया गया भारत सरकार अधिनियम (जिसे मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार के नाम से भी जाना जाता है), और

* 1920 और 1922 के बीच गांधी जी के नेतृत्व में चलाया गया असहयोग आंदोलन।

जैसा कि स्पष्ट है अंग्रेजी शासन का भारत में कोई लोकतांत्रिक आधार नहीं था। अंग्रेजी सरकार को भारत की जनता ने नहीं चुना था। और न ही अंग्रेजी सरकार भारतीयों के हित में शासन करती थी। इसीलिए लगातार भारतीय जनता ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ विद्रोह की आवाज उठाई। इन विद्रोहों से निपटने के लिए एक तरफ तो अंग्रेजी सरकार ने दमन की नीति अपनाई तो दूसरी तरफ कुछ भारतीयों को रियायतें देकर अपनी तरफ मिलाने की कोशिश की। इस कोशिश का एक नमूना था भारत में कुछ लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना का प्रयास। बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारत के लिए 1909 और 1919 में दो एक्ट (अधिनियम) पास किए। इन एक्टों के द्वारा अंग्रेजी सरकार ने शासन में भारतीयों को हिस्सेदारी देने का दावा किया। केंद्र में एक सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली या केंद्रीय विधान परिषद की स्थापना की गई जिसके 145 सदस्य होने थे। इनमें से 40 सदस्य अंग्रेजी सरकार द्वारा मनोनीत किए जाने थे और बाकी 105 सदस्य जनता द्वारा चुने जाने थे। इसी तरह सभी प्रांतों (उन दिनों प्रदेश को प्रांत या सूबा कहा जाता था) में प्रांतीय लेजिस्लेटिव कौंसिलों की शुरुआत की गई। इन कौंसिलों में भी कुछ सरकारी सदस्य होने थे और बाकी को जनता द्वारा चुनकर भेजा जाना था।

इन कौंसिलों और असेम्बली का काम था सरकार को प्रशासन संबंधी राय देना, प्रस्ताव रखना, उन पर बहस करना, असेम्बली या कौंसिलों में बिल रखना और उन्हें पास करके एक्ट (अधिनियम) बनाना। दूसरे शब्दों में देश का शासन चलाने के लिए कानून बनाने जैसा ही काम उन दिनों की कौंसिलों को करना था।

लेकिन कुछ मायनों में उन दिनों की कौंसिलें आज की पार्लियामेंट से अलग थीं :

* आजकल 18 साल की उम्र पार कर लेने के बाद हर किसी को वोट देने का अधिकार है (इसे वयस्क मताधिकार कहते हैं) लेकिन उन दिनों यह अधिकार बहुत कम लोगों तक सीमित था। 1919 के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार जनसंख्या के केवल तीन प्रतिशत से भी कम लोगों को ही वोट देने का अधिकार था। दूसरे शब्दों में कौंसिल में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार समाज के कुछ विशिष्ट वर्गों को ही था। आम जनता को यह अधिकार नहीं था।
* आजकल पार्लियामेंट के सारे सदस्य जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं। लेकिन उन दिनों कौंसिलों और असेम्बली में लगभग एक तिहाई लोग जनता द्वारा चुने हुए नहीं होते थे। ये एक तिहाई लोग अंग्रेजी सरकार द्वारा भेजे जाते थे और हर मसले पर ये सरकार का ही समर्थन करते थे। किसी भी लोकप्रिय बिल को पास होने से ये लोग रोक सकते थे। साथ ही साथ कौंसिलों और असेम्बली की जवाबदेही भारतीय जनता के प्रति न होकर ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रति ही होती थी।
* आजकल पार्लियामेंट और प्रादेशिक असेम्बलियों की अध्यक्षता स्पीकर द्वारा की जाती है, और स्पीकर का चुनाव सांसदों या विधायकों द्वारा किया जाता है। लेकिन उन दिनों कौंसिलों का संचालन गवर्नर द्वारा और केंद्रीय असेम्बली का संचालन गवर्नर जनरल द्वारा होता था। ये अंग्रेजी सरकार के अधिकारी होते थे और बहुत शक्तिशाली

थे। उन्हें यह भी अधिकार था कि वे सभी सदस्यों की मर्जी के खिलाफ भी अपने विशेषाधिकार का इस्तेमाल करके कोई भी एक्ट पास कर सकते थे।

इस सबसे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उन दिनों की कौंसिलें आज की पार्लियामेंट से बिल्कुल अलग थीं। आज के विपरीत उन दिनों की असेम्बली और कौंसिलें न तो जनमत पर आधारित थीं और न ही उन्हें लोकतांत्रिक कहा जा सकता था। वे लोकतंत्र के परदे में अंग्रेजी साम्राज्यवाद का ही एक हिस्सा थीं।

स्वराज पार्टी की स्थापना कौंसिल प्रवेश की बुनियाद पर आधारित थी। इसके नेताओं, चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू का मानना था कि कांग्रेसी नेताओं को कौंसिलों का बहिष्कार न करके उनका इस्तेमाल करना चाहिए। चुनावों में बहुमत लेकर, कौंसिलों में प्रवेश करके वहां पर अंग्रेजी साम्राज्यवाद से संघर्ष करना चाहिए। हालांकि वे यह अच्छी तरह समझते थे कि 1919 के भारत सरकार अधिनियम के तहत बनी कौंसिलें और असेम्बली काफी शक्तिहीन हैं। वे अंग्रेजी सरकार के हाथों में एक मोहरा मात्र हैं। फिर भी उन्होंने कौंसिल प्रवेश की राजनीति की वकालत क्यों की, इस सवाल पर बाद में विचार किया जाएगा।

स्वराज पार्टी की स्थापना को समझने के लिए दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है 1920 और 1922 के बीच गांधी जी के नेतृत्व में चलाया गया असहयोग आंदोलन। इस आंदोलन ने एक तरफ तो अंग्रेजी शासन की जड़ें हिला दीं और दूसरी तरफ कुछ ऐसी परिस्थितियां तैयार कीं जिनके तहत 'स्वराजवाद' की शुरुआत हुई।

असहयोग आंदोलन अंग्रेजी शासन के खिलाफ समूचे देश में चलाया गया एक आंदोलन था। इसके नेता गांधी जी थे और यह पूरी तरह से अहिंसात्मक विरोध पर आधारित था। मार्च 1919 में सरकार ने रौलेट एक्ट पास किया जिसकी मदद से सरकार किसी भी व्यक्ति

को बगैर मुकदमा चलाए जेल में रख सकती थी। पंजाब में 'मारशल-ला' यानी सेना का शासन, लगाए जाने से वहां के लोग काफी नाराज थे। सरकार के इन्हीं फैसलों का विरोध करने के लिए जब 13 अप्रैल 1919 को पंजाब की जनता अमृतसर शहर के जलियांवाला बाग में शांतिपूर्ण प्रदर्शन के लिए इकट्ठी हुई तब सेना ने उसे घेर कर उस पर गोलियां बरसाईं। इस बर्बर हत्याकांड में सरकारी आंकड़ों के हिसाब से हजारों लोग शहीद और घायल हुए। जलियांवाला हत्याकांड से देश भर में रोष की लहर फैल गई और लोग अंग्रेजी सरकार से लड़ने के लिए दृढ़ संकल्प हो उठे। 1919 में ही पास हुए



जलियांवाला बाग का बर्बर नरसंहार

भारत सरकार अधिनियम से भी अधिकतर भारतीय नेताओं को निराशा और असंतोष हुआ।

अंग्रेजी सरकार के एक और फैसले ने भारतीय मुसलमानों को भी बहुत असंतोष पहुंचाया। पहले विश्वयुद्ध (1914-18) में तुर्की ने ब्रिटेन के खिलाफ जर्मनी और आस्ट्रिया की तरफदारी की थी। भारतीय मुसलमान तुर्की के सुल्तान को अपना धार्मिक नेता यानी खलीफा मानते थे। लड़ाई में भारतीय मुसलमानों की मदद लेने के लिए अंग्रेजी सरकार ने उन्हें आश्वासन दिया कि लड़ाई के बाद ब्रिटेन तुर्की के खलीफा के खिलाफ कोई कदम नहीं उठाएगा। लेकिन युद्ध खत्म होने के तुरंत बाद ब्रिटेन ने तुर्की में खलीफा को सत्ता से हटा दिया। इस वादा खिलाफी से भारतीय मुसलमानों में रोष पैदा हुआ। उन्होंने भी तुर्की में खलीफा को पुनर्स्थापित करने के लिए ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध खिलाफत आंदोलन शुरू किया। खिलाफत आंदोलन के नेताओं और गांधी जी के प्रयास से खिलाफत आंदोलन और असहयोग आंदोलन एक-दूसरे से मिल गए और दोनों ने ही अंग्रेजी सरकार को सबक सिखाने की ठान ली।

खिलाफत और असहयोग आंदोलन का एक खास हथियार था, बहिष्कार। ब्रिटिश सरकार से मिली उपाधियों (जैसे राय बहादुर, खान बहादुर, सर इत्यादि) को लौटाना, सरकारी कालेजों,अदालतों और विदेशी कपड़ों का बहिष्कार, असेम्बली और कौंसिलों का बहिष्कार। असेम्बली और कौंसिलों के बहिष्कार पर कांग्रेस में कुछ मतभेद हुए। भारत सरकार अधिनियम के तहत 1920 में केंद्र और प्रांतों में चुनाव होने थे। इन चुनावों के बारे में कुछ कांग्रेसी नेताओं का अलग नजरिया था। खासतौर से बंगाल के नेता देशबंधु चितरंजन दास की राय थी कि असेम्बली और कौंसिलों का बहिष्कार न किया जाए बल्कि चुनावों में हिस्सा लेकर कौंसिलों में प्रवेश किया जाए।

तो यह थी 'स्वराजवाद' की एक छोटी-सी शुरुआत।

1922 में गांधी जी ने अकस्मात ही अप्रत्याशित रूप से असहयोग आंदोलन को रोक देने का फैसला किया। इसका कारण था उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले में चौरी-चौरा नामक जगह पर क्रोधित जनता का पुलिस के खिलाफ हिंसक प्रदर्शन। पुलिस ने जुलूस के साथ दुर्व्यवहार किया, गोलीबारी की, इससे प्रदर्शनकारियों की भीड़ बेकाबू हो उठी और उसने पूरे थाने में आग लगा दी। थाने के सभी पुलिसकर्मी मारे गए। इस घटना का गांधी जी पर बहुत गंभीर असर हुआ। उन्हें लगा कि देश अभी पूरी तरह से अहिंसक असहयोग के लिए तैयार नहीं हुआ है। उन्होंने आंदोलन को वापस लेने की घोषणा कर दी।

1922 में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन एक दोराहे पर खड़ा था। कांग्रेसी नेता असमंजस में थे कि आजादी की लड़ाई कैसे आगे बढ़ाई जाए। इस दोराहे के असमंजस से उदय हुआ स्वराज पार्टी का।

असहयोग आंदोलन के वापस लिए जाने के फौरन बाद अंग्रेजी सरकार ने गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया। उन्हें 6 साल की सजा दी गई। उनकी गिरफ्तारी के बाद कांग्रेस नेतृत्व के सामने दो मुख्य सवाल खड़े हुए :

(1) असहयोग आंदोलन को दोबारा शुरू किया जाए या नहीं, और

(2) 1923 में फिर से होने वाले चुनावों में कांग्रेस का क्या रवैया रहना चाहिए।

इन सवालों पर लोगों की राय जाननी आवश्यक थी। कांग्रेस के राजनीतिक कार्यक्रम पर भी पुनर्विचार किया जाना था। इसलिए अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने जून 1922 में एक जांच कमेटी

नियुक्त की। इसके सदस्य थे हकीम अजमल खान, विट्ठलभाई पटेल, मोतीलाल नेहरू, श्रीनिवास अय्यंगर, मुख्तार अहमद अंसारी और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी। इस कमेटी ने देशभर का दौरा किया। कई लोगों से बात करके अपनी रिपोर्ट पेश की। कमेटी का एक स्वर से मानना था कि देश अभी सक्रिय असहयोग के लिए तैयार नहीं है। लेकिन कौंसिलों में प्रवेश के मसले पर कमेटी में मतभेद था। हकीम अजमल खान, विट्ठलभाई पटेल और मोतीलाल नेहरू कौंसिल प्रवेश के पक्ष में थे और श्रीनिवास अय्यंगर, डा0 अंसारी और चक्रवती राजगोपालाचारी इसके विपक्ष में।

मात्र छह सदस्यों की इस कमेटी के मतभेद ने आने वाले कुछ महीनों में काफी विशाल रूप धारण कर लिया। समूचा कांग्रेस संगठन दो खेमों में बंट गया। कुछ समय के लिए ऐसा लगने लगा मानो कांग्रेस का दो अलग दलों में बंटवारा हो जाएगा। कौंसिल प्रवेश के समर्थक 'प्रो चेंजर' या परिवर्तनवादी कहलाए गए और कौंसिल प्रवेश के विरोधी 'नो चेंजर' या अपरिवर्तनवादी के नाम से जाने गए। राजेन्द्र प्रसाद (स्वतंत्र भारत के पहले राष्ट्रपति) सरदार वल्लभभाई पटेल (स्वतंत्र भारत की पहली नेहरू सरकार में गृहमंत्री) और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी या राजाजी (स्वतंत्र भारत के पहले भारतीय गवर्नर जनरल) मुख्य अपरिवर्तनवादी नेता थे।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी इस विषय पर किसी निश्चित फैसले पर पहुंचने में असमर्थ रही। इसलिए अंतिम निर्णय दिसंबर, 1922 में बिहार के गया शहर में होने वाले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के खुले सत्र के लिए छोड़ दिया गया। चितरंजन दास गया कांग्रेस की अध्यक्षता कर रहे थे।

गया कांग्रेस में दोनों गुटों के आपसी मतभेद काफी स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आए। परिवर्तनवादियों की राय थी कि कांग्रेसियों

को चुनाव लड़कर और बहुमत प्राप्त कर असेम्बली और कौंसिलों में जाना चाहिए। वहां जाकर अंग्रेजी सरकार का विरोध करना चाहिए। अपरिवर्तनवादियों ने कौंसिल प्रवेश का जमकर विरोध किया। उनका मानना था कि कौंसिल प्रवेश का मतलब है अंग्रेजी सरकार के साथ सहयोग करना। इसके स्थान पर उन्होंने गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने पर बल दिया। रचनात्मक कार्यक्रमों से मतलब था हिंदू-मुस्लिम एकता का प्रचार, खादी का प्रसार और छुआछूत की समस्या के खिलाफ मुहिम छेड़ना। दोनों पक्षों ने अपने अपने मतों की खूब वकालत की । अंत में निर्णय आम सदस्यों के लिए छोड़ दिया गया।

जीत अपरिवर्तनवादियों की हुई। उन्हें 1740 वोट मिले और कौंसिल प्रवेश के कार्यक्रम को केवल 890 वोट मिले। चितरंजन दास की अध्यक्षता के बावजूद गया कांग्रेस ने अपना फैसला कौंसिल प्रवेश के विरोध में दिया। चितरंजन दास ने कांग्रेस की अध्यक्षता से इस्तीफा दे दिया।

गया में अपनी पराजय से स्वराजवादी हताश नहीं हुए। उन्होंने यह तो समझ लिया कि कौंसिल प्रवेश के उनके कार्यक्रम को कांग्रेस में बहुमत प्राप्त नहीं है। लेकिन कांग्रेस में कम से कम 890 लोग ऐसे थे जो कौंसिल प्रवेश के समर्थक थे। इस बात से प्रोत्साहित होकर कांग्रेस सत्र के तुरंत बाद गया में ही उन्होंने अपने समर्थकों की एक मीटिंग की। उन्होंने कांग्रेस खिलाफत स्वराज पार्टी बनाने का फैसला किया। नई पार्टी का घोषणा पत्र ज़नवरी 1923 में जारी किया गया। चितरंजन दास इसके अध्यक्ष और मोतीलाल नेहरू मुख्य सचिव बने। लेकिन इससे परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों के मतभेद दूर नहीं हुए। परस्पर संदेह और गलतफहमी के वातावरण में ऐसा लगने लगा कि कांग्रेस का दो दलों में विभाजन हो जाएगा। मौलाना अबुल कलाम आजाद (राष्ट्रीय

आंदोलन के महत्वपूर्ण नेता, गांधी जी के निकट सहयोगी, स्वतंत्र भारत के पहले शिक्षा मंत्री) ने दोनों गुटों के बीच सुलह कराने का पहला प्रयास किया।

1924 में अंग्रेजी सरकार ने महात्मा गांधी को उनके बिगड़ते स्वास्थ्य के कारण जेल से रिहा कर दिया। एक बार फिर परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों के बीच निपटारे के प्रयास शुरू हुए। गांधी जी ने शुरू में तो कौंसिल प्रवेश का विरोध किया ओर उसे असहयोग का हिस्सा मानने से इंकार कर दिया। लेकिन बाद में उन्होंने कांग्रेस के बेलगाम सत्र में चितरंजन दास के साथ समझौता कर लिया। इस समझौते के तहत कांग्रेस नेतृत्व ने औपचारिक रूप से स्वराजवाद को कांग्रेस के कार्यक्रम का ही एक हिस्सा माना। इस समझौते से कांग्रेस के विभाजन का खतरा टल गया। स्वराज पार्टी को कांग्रेस के संरक्षण का लाभ भी मिला।

स्वराजवाद बनाम असहयोग

स्वराज पार्टी का नाम 'कांग्रेस खिलाफत स्वराज पार्टी' काफी सोच समझकर रखा गया था। लोगों में स्वराजवादियों के प्रति काफी गलतफहमियां पैदा हो गई थीं। कुछ लोग स्वराजवादियों को कांग्रेस विरोधी और अंग्रेजी शासन का समर्थक समझने लगे थे। इसलिए नई पार्टी बनाते समय स्वराजवादियों ने इन गलतफहमियों को दूर करने का प्रयास किया। अपने नए नाम के द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट किया कि स्वराज्य प्राप्ति उनका उद्देश्य है। खिलाफत आंदालेन को वे अपनी विरासत मानते हैं। स्वराज पार्टी कांग्रेस का विकल्प न होकर कांग्रेस की एक शाखा मात्र है। इसलिए पार्टी का नाम 'कांग्रेस खिलाफत स्वराज पार्टी' रखा गया।

मोतीलाल नेहरू और चितरंजन दास का मानना था कि

'स्वराजवाद' के द्वारा अंग्रेजी शासन की संवैधानिक विश्वस्नीयता का पर्दाफाश किया जा सकता है। 1909 और 1919 के भारत सरकार अधिनियमों द्वारा ब्रिटेन ने यह साबित करने की कोशिश की थी कि भारत में अंग्रेजी शासन तानाशाही पर आधारित नहीं था बल्कि उसका एक सुदृढ़ संवैधानिक आधार था। इन अधिनियमों के द्वारा उन्होंने दुनिया को यह बताने की कोशिश की कि भारत के शासन में भारतीयों की भी हिस्सेदारी है। जनता द्वारा निर्वाचित भारतीय सदस्य असेम्बली और कौंसिलों में बैठकर कानून बनाते हैं। वे देश का शासन चलाने में अंग्रेजी सरकार की मदद करते हैं। इस तरह से ब्रिटेन ने दुनिया को बताया कि भारत में उनका शासन लोकतंत्र पर आधारित है।

मोतीलाल नेहरू और चितरंजन दास का यह मानना था कि केंद्रीय असेम्बली और प्रांतीय कौंसिलों में जाकर वहां पर अंग्रेजी शासन की गतिविधियों में रोड़े अटका कर, और उनके प्रस्तावों का विरोध करके अंग्रेजों के इस संवैधानिक परीक्षण को असफल किया जा सकता है।

चितरंजन दास ने स्वराजवाद और असहयोग के परस्पर संबंधों को रेखांकित करते हुए कहा, "अभी तक हमने कौंसिलों का बाहर से बहिष्कार किया है ... अब भीतर से कौंसिलों का सफल बहिष्कार करना कांग्रेस का कर्तव्य होना चाहिए।"

उनके अनुसार कौंसिलें लोकतंत्र का महज नकाब पहने हुए थीं। असली शासन अंग्रेजी नौकरशाही के ही हाथों में था। इस नौकरशाही का विरोध कौंसिलों से बाहर रहने के बजाए कौंसिलों के भीतर से ज्यादा कारगर ढंग से किया जा सकता था।

स्वराजवादी राजनीति के व्यावहारिक पहलू पर चितरंजन दास ने इन शब्दों में प्रकाश डाला, "कौंसिलों और असेम्बली में जाकर हम अपने मूलभूत अधिकारों की घोषणा करेंगे। उन अधिकारों की

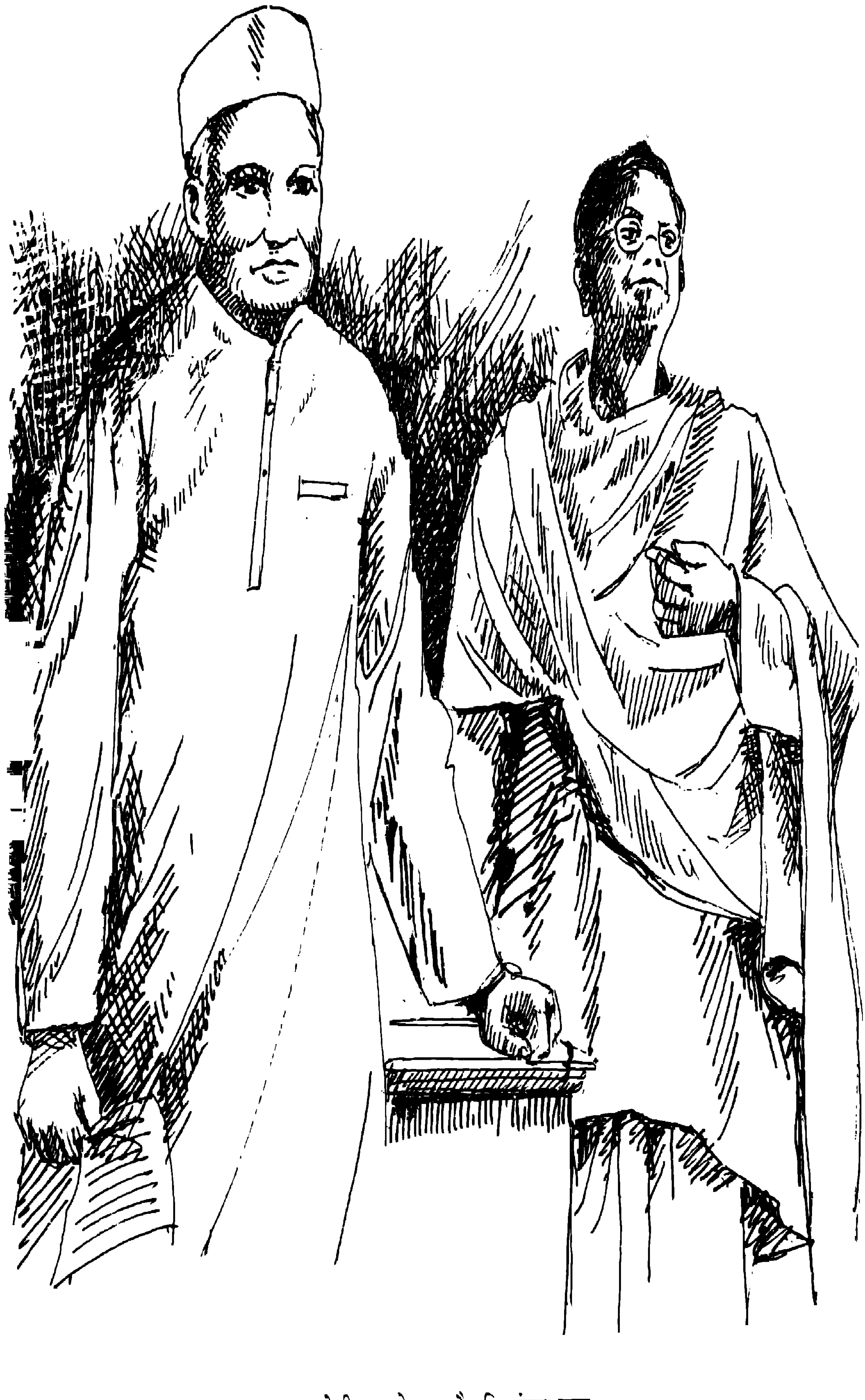
स्वीकृति और रक्षा के लिए एक संविधान की मांग करेंगे। काफी संभावना इस बात की है कि अंग्रेजी सरकार इस बात को नहीं मानेगी। इस पर हम सारे स्वराजवादी सरकारी नौकरशाही से असहयोग करेंगे। हर सरकारी बिल का विरोध करेंगे। हम बजट को पास नहीं होने देंगे। हर सरकारी प्रस्ताव को स्थगित करेंगे। इस तरह से हम हर प्रस्तावित सरकारी बिल को पराजित करेंगे।''

कुछ कांग्रेसी सदस्यों ने स्वराजवादियों की यह आलोचना की कि कौंसिलों में रोड़े अटकाने की उनकी नीति नकारात्मक और विध्वंसकारी है। देशबंधु चितरंजन दास ने इसका जवाब देते हुए कहा, ''हम हर तरफ से अंग्रेजी नौकरशाही से घिरे हुए हैं। ऐसे में कुछ बिगाड़े बगैर कुछ नए का निर्माण कर पाना असंभव है। लेकिन यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि अगर हम कुछ तोड़ते हैं तो हमारा उद्देश्य कुछ निर्माण करने का भी है।''

इससे यह स्पष्ट होता है कि गांधीवादी आंदोलन और स्वराजवादी राजनीति एक-दूसरे से जुड़े हुए थे और अलग अलग रास्तों से होकर एक ही मंजिल पर पहुंचते थे।

2. स्वराजवादी नेता : चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू

स्वराज पार्टी के प्रमुख नेताओं -- चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू में कई तरह की समानताएं थीं। दोनों ही पेशे से वकील थे और अपने समय के सफलतम वकीलों में से थे। सक्रिय राजनीति में आने से पहले दोनों का ही जीवन ऐश्वर्य से भरा था। दोनों ने अपने भाग्य का निर्माण खुद किया था। किसी भी तरह का धन या संपदा उन्हें विरासत में नहीं मिली थी। दोनों की ही सालाना आमदनी लाखों रुपयों में थी।



मोतीलाल नेहरू और चितरंजन दास

गांधी जी के संपर्क ने दोनों के जीवन को बहुत ही बुनियादी तौर पर प्रभावित किया। गांधी जी के संपर्क में आने के बाद दोनों ही नेताओं ने अपनी वकालत छोड़ दी। उन्होंने सुविधाभोगी जीवन को त्याग कर सादा जीवन बिताना शुरू कर दिया।

देशबंधु चितरंजन दास का जन्म 5 नवंबर 1870 को कलकत्ता में हुआ था। उनके पिता भुवन मोहन कलकत्ता के उच्च न्यायालय में वकील थे। प्रेसिडेंसी कालेज से बी. ए. की डिग्री लेने के बाद सिविल सर्विस की परीक्षा देने के लिए वे ब्रिटेन रवाना हुए। परीक्षा में वे पास भी हो गए थे लेकिन उन्हें सिविल सर्विस में नहीं चुना गया। शायद उसका एक कारण यह था कि ब्रिटेन जाकर चितरंजन दास ने राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लिया था। 1893 में उन्होंने वकालत की पढ़ाई पूरी की। जल्दी ही वे बंगाल के बड़े वकीलों में गिने जाने लगे।

चितरंजन दास कवि भी थे। वैष्णव कविता में उनकी विशेष रुचि थी। उनकी कविताओं के कई संकलन भी प्रकाशित हुए। 1814 में उन्होंने नारायण के नाम से एक बंगाली मासिक पत्रिका निकाली।

सक्रिय राजनीति से चितरंजन दास लगभग शुरू से ही जुड़े रहे। कांग्रेस की गतिविधियों में उन्होंने हिस्सा लिया और बंगाल कांग्रेस की बागडोर अपने हाथों में ली। कांग्रेस के राजनीतिक कार्यक्रम और गतिवधियों को अधिक जुझारू करने की उन्होंने तगड़ी वकालत की।

अप्रैल 1919 में हुए जलियांवाला हत्याकांड ने समूचे देश की भावनाओं को झकझोर दिया था। कांग्रेस ने एक जांच समिति बनाई जिसमें चितरंजनदास ने सक्रिय भूमिका निभाई। कांग्रेस जांच समिति ने हत्याकांड के लिए जिम्मेदार जनरल डायर को सजा दिए जाने की मांग की। लेकिन अंग्रेजी सरकार ने इस मांग को ठुकरा दिया और जनरल डायर को बरी कर दिया। इससे चितरंजन दास को विश्वास

हो गया कि अंग्रेजी शासन के खिलाफ सक्रिय असहयोग के सिवा कोई चारा नहीं है।

असहयोग आंदोलन के दौरान अंग्रेजी अदालतों के बहिष्कार का कार्यक्रम बना। चितरंजन दास ने भी अपनी वकालत छोड़ दी। ऐसा कहा जाता है कि वकालत छोड़ने से पहले उनकी आमदनी 50,000 रुपया माहवार थी। महात्मा गांधी के शब्दों में वे एक राजकुमार जैसा जीवन व्यतीत करते थे। असहयोग आंदोलन में आने के बाद उन्होंने अपनी सभी सुख सुविधाओं का त्याग कर दिया। एक राजकुमार की जगह वे एक तपस्वी जैसा जीवन बिताने लगे।

कौंसिलों के बहिष्कार के चितरंजन दास शुरू से ही खिलाफ थे। उनका मानना था कि कौंसिल के बहिष्कार से आंदोलन कमजोर पड़ेगा। कौंसिल प्रवेश की वकालत उन्होंने इन शब्दों में की :

''ये कौंसिलें ब्रिटिश सरकार की देन नहीं हैं। यह अधिकार तो उनके हाथों से छीना गया है। मैं चाहता हूं कि ये कौंसिलें स्वराज्य प्राप्ति का एक माध्यम बनें। जो अधिकार हमने पिछले 35 वर्षों की मेहनत और संघर्ष के बाद प्राप्त किए हैं, हमें अब उन्हें खोना नहीं चाहिए।''

कलकत्ता में उन्होंने अंग्रेजी कालेजों के बहिष्कार और राष्ट्रीय कालेजों की स्थापना पर पूरा जोर दिया। उनके आह्वान पर सैकड़ों छात्रों ने अंग्रेजी कालेजों को छोड़ दिया। उनके प्रयासों से जनवरी 1921 में एक राष्ट्रीय कालेज की स्थापना की गई। नेताजी सुभाषचंद्र बोस इसके पहले प्रधानाचार्य बने। चितरंजन दास के प्रयासों के कारण अंग्रेजी शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार सबसे ज्यादा कारगर बंगाल में ही रहा।

दिसंबर 1921 में ब्रिटेन के राजकुमार के आगमन का बहिष्कार करने के जुर्म में उन्हें गिरफ्तार किया गया। उनकी पत्नी बसंती देवी

और बेटे पहले ही गिरफ्तार हो चुके थे। अदालत ने उन्हें छह महीने की सजा दी।

गांधी जी के साथ चितरंजन दास के संबंधों को ठीक से समझ पाना जरा मुश्किल हैं। एक तरफ तो राजनीतिक स्तर पर दोनों के मतभेद लगातार बने रहे हैं। लेकिन व्यक्तिगत स्तर पर दोनों नेताओं में एक दूसरे के प्रति आदर और स्नेह था। दोनों ने राजनीति में एक दूसरे से बहुत कुछ सीखा। गांधी जी के प्रभाव में आकर चितरंजन दास ने अपनी जीवन शैली ही बदल डाली। और चितरंजन दास के कारण कौंसिल प्रवेश की राजनीति से गांधी जी का विरोध धीरे धीरे क़म होता गया। आगे आने वाले वर्षों में असेम्बली की राजनीति कांग्रेस की राजनीति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गई और गांधी जी ने भी कांग्रेस के लिए इस राजनीति को अपनाया। मोतीलाल नेहरू के साथ उनका संबंध एक मित्र के साथ साथ एक राजनीतिक सहयोगी का भी था।

वे 1923 और 1925 के बीच स्वराज पार्टी की गतिविधियों में व्यस्त रहे। 1925 तक उनका स्वास्थ्य कुछ खराब रहने लगा था। स्वराज पार्टी का विकास भी उनकी उम्मीद के मुताबिक नहीं हो रहा था। ऐसे माहौल में पचपन साल की उम्र में देशबंधु चितरंजन दास का निधन हो गया। उनके निधन से पूरा देश स्तब्ध रह गया। वे अपने समय में बंगाल से राष्ट्रीय आंदोलन के सबसे बड़े नेता थे। सारे देश को उनसे काफी उम्मीदें थीं। देशबंधु के देहांत से स्वराज पार्टी ने अपना संस्थापक और बेहतरीन नेता खो दिया। स्वराज पार्टी में उनके सहयोगी मोतीलाल नेहरू इस हादसे से कुछ टूट से गए। देशबंधु के निधन के समय मोतीलाल नेहरू अपने बेटे जवाहरलाल नेहरू के साथ हिमालय की पहाड़ियों में घूम रहे थे। देशबंधु के निधन पर उनकी प्रतिक्रिया को जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है :

"जब हम लोग चंबा पहुंचे तब जून का कोई दिन था और हम लोग पहाड़ी रास्तों पर सफर करके कुछ थक गए थे। इसी समय एक तार आया। इससे मालूम हुआ कि देशबंधु का देहांत हो गया। बहुत देर तक पिता जी शोक के भार से झुके बैठे रहे। उनके मुंह से एक शब्द तक नहीं निकला। यह आघात उनके लिए बहुत ही निर्दयतापूर्ण था। मैंने उन्हें उतना दुखी होते हुए कभी नहीं देखा था। वह व्यक्ति जो उनके लिए दूसरे सब लोगों से ज्यादा घनिष्ठ और प्यारा साथी हो गया था, यकायक उन्हें छोड़कर चला गया और सारा बोझ उनके कंधों पर छोड़ गया। वह बोझ वैसे ही बढ़ रहा था। वह तथा देशबंधु दोनों ही उससे तथा लोगों की कमजोरियों से ऊब रहे थे। फरीदपुर कांफ्रेंस में देशबंधु ने जो आखिरी भाषण दिया वह कुछ थके हुए से व्यक्ति का भाषण था।"

दूसरे प्रमुख नेता मोतीलाल नेहरू का जन्म चितरंजन दास से नौ साल पहले 6 मई, 1861 में आगरा में हुआ। उनके पुरखे कश्मीर से 18वीं शताब्दी में दिल्ली आए थे। पंडित राज कौल को मुगल सल्तनत में कुछ गांवों की जागीर मिली और दिल्ली में एक नहर के किनारे रहने की वजह से उनकी पीढ़ी के लोग नेहरू कहलाए। मोतीलाल नेहरू के पिता गंगाधर नेहरू दिल्ली में पुलिस अधिकारी थे। वे 1857 के विद्रोह में दिल्ली से आगरा आ गए थे। यहीं मोतीलाल नेहरू का जन्म हुआ। उनके जन्म से कुछ महीने पहले ही उनके पिता गंगाधर नेहरू की मौत हो चुकी थी। मोलीलाल की शुरुआती परवरिश उनके बड़े भाई ने की।

मोतीलाल नेहरू की प्रारंभिक शिक्षा अरबी और फारसी में हुई थी। वकालत की परीक्षा पास करके 1883 में उन्होंने कानपुर में वकालत शुरू की। तीन साल बाद 1886 में वे इलाहाबाद उच्च न्यायालय में आ गए। कुछ ही समय में उनकी गिनती वहां के मशहूर वकीलों में होने लगी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई थी। 1888 में मोतीलाल पहली बार राजनीति से जुड़े जब उन्होंने इलाहाबाद में कांग्रेस सत्र में भाग लिया। उन दिनों कांग्रेस की राजनीति, बाद के वर्षों की अपेक्षा, काफी नरमपंथी होती थी। अंग्रेजी शासन की आलोचना काफी धीमे और नरम स्वर में की जाती थी। कई नेताओं को अंग्रेजी सरकार की न्यायप्रियता पर भी काफी भरोसा था। ऐसे में अंग्रेजी सरकार के प्रति खुले असहयोग की तो बात करने का सवाल ही नहीं उठता था। मोतीलाल नेहरू की शुरुआती राजनीति ऐसे माहौल से काफी मेल खाती थी। फिर भी इलाहाबाद कांग्रेस के बाद उन्होंने राजनीति में कोई विशेष हिस्सा नहीं लिया। इस दौरान उन्होंने कुछ सामाजिक मसलों को जरूर उठाया। इलाहाबाद में उन्होंने जातिवाद, परदा प्रथा और अंधविश्वास के खिलाफ आवाज उठाई।

यहां पर यह समझ लेना जरूरी है कि 20वीं शताब्दी के आरंभ में अंग्रेजी शासन को लेकर मोतीलाल नेहरू और देशबंधु चितरंजन दास की समझ में काफी फर्क था। मोतीलाल को अंग्रेजी सरकार की सदाशयता और न्यायप्रियता पर काफी विश्वास था। उनका मानना था कि अंग्रेजी सरकार के प्रयासों से धीरे धीरे भारत में बेहतर शासन स्थापित हो जाएगा। लेकिन देशबंधु का मानना था कि अंग्रेजों से बेहतर शासन व्यवस्था की उम्मीद करना ही बेकार है। इसके लिए संवैधानिक संघर्ष करना होगा। दूसरे शब्दों में भारतीयों को अपने अधिकारों के लिए लड़ना होगा। अधिकार देने के लिए अंग्रेजी सरकार को मजबूर करना होगा।

धीरे धीरे नरमपंथी विचारों से मोतीलाल का मोह भंग होना शुरू हुआ। उन्हें यह लगने लगा कि अंग्रेजी सरकार अपनी इच्छा से भारत में स्वराज्य स्थापित नहीं करेगी। अंग्रेजी शासन की सदाशयता पर भी वे प्रश्न चिह्न लगाने लगे। लेकिन भारत में स्वराज्य कैसे

स्थापित किया जाए, इस पर उनके कुछ निश्चित विचार नहीं थे। 1907 के बाद, खास तौर से उत्तर प्रदेश लेजिस्लेटिव कौंसिल में जाने के बाद नरमपंथी विचारों से मोतीलाल का मोह भंग हुआ। लेकिन इसका कोई व्यापक विकल्प उन्हें नजर नहीं आ रहा था।

1917 में इसका विकल्प उन्हें नजर आया, जब अंग्रेजी सरकार ने एनी बेसेंट को गिरफ्तार कर लिया। एनी बेसेंट लंदन में पैदा हुई अंग्रेज महिला थीं। वे भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन से बहुत प्रभावित थीं। उन्हें विश्वास था कि भारतीय सभ्यता यूरोपीय सभ्यता से ऊंची और श्रेष्ठ है। वे भारत पर अंग्रेजी प्रभुत्व की विरोधी थीं। इस विरोध के प्रचार के लिए 1916 में उन्होंने एक होम रूल लीग की स्थापना की। जल्दी ही उनकी गतिविधियां अंग्रेजी सरकार को खतरनाक लगने लगीं। 1917 में अंग्रेजी सरकार ने एनी बेसेंट को गिरफ्तार कर लिया। उनकी गिरफ्तारी के बाद मोतीलाल नेहरू काफी खुले रूप से ब्रिटिश विरोधी राजनीति में आ गए। उन्होंने होम रूल लीग की सदस्यता स्वीकार कर ली। होम रूल लीग का सदस्य बनना उन दिनों अंग्रेजी सरकार के खिलाफ स्पष्ट विद्रोह का संकेत था। इलाहाबाद में लगभग चार हजार छात्रों के सामने पहली बार सार्वजनिक भाषण देते हुए मोतीलाल ने अंग्रेजी सरकार के खिलाफ आवाज उठाई और मानो विद्रोह का बिगुल बजा दिया, "हमारा देश एक संकट से गुजर रहा है। अंग्रेजी सरकार ने हमारी मांगों को दबाना शुरू कर दिया है। क्या हम इसके सामने झुक जाएंगे? नहीं। हम स्वराज्य का झंडा लहराएंगे और 33 करोड़* स्वरों से स्वराज्य का नारा निकलेगा।"

1919 में ही राष्ट्रवादी विचारों को और फैलाने के लिए मोतीलाल नेहरू ने 'इंडिपेंडेंट' के नाम से एक अंग्रेजी अखबार निकाला। उसी

---

* उन दिनों भारत की जनसंख्या



अंग्रेजी सरकार द्वारा ऐनी बेसेंट की गिरफ्तारी

वर्ष वे कांग्रेस के अमृतसर सत्र के अध्यक्ष बने।

मोतीलाल नेहरू की राजनीति में एक बार फिर महत्वपूर्ण बदलाव आया। 1919 और 1920 की परिस्थितियों ने मोतीलाल नेहरू के जीवन को बुनियादी तौर पर बदल डाला--उनकी राजनीति से लेकर उनके रहन-सहन तक।

एनी बेसेंट की गिरफ्तारी, रौलेट एक्ट, (जिसके तहत अंग्रेजी सरकार बिना कारण बताए किसी को भी गिरफ्तार कर सकती थी), जलियांवाला हत्याकांड और पंजाब में मारशल-ला (सेना का शासन) ने अंग्रेजी सरकार के प्रति उनकी किसी भी सहानुभूति को खत्म कर दिया। उन्हें पूरी तरह से सरकार विरोधी खेमे में खड़ा कर दिया। 1919 के आसपास ही मोतीलाल नेहरू गांधी जी के संपर्क में आए। जिसका उनकी राजनीति पर काफी असर पड़ा। इसके अलावा नौजवान जवाहरलाल के गांधीवादी राजनीति के प्रति झुकाव ने भी मोतीलाल पर गहरा असर डाला। जवाहरलाल नेहरू पूरे उत्साह के साथ गांधी जी की असहयोग की राजनीति में आ गए। मोतीलाल जी अपने बेटे से किसी तरह की राजनीतिक दूरी नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने भी अंग्रेजी सरकार के खिलाफ पूरे असहयोग की राजनीति में प्रवेश किया।

लेकिन यह परिवर्तन आसान न था। यह केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं था। इस परिवर्तन के तहत मोतीलाल को अपनी जीवन शैली भी बदल देनी थी। न सिर्फ उन्होंने लेजिस्लेटिव कौंसिल की सदस्यता से इस्तीफा दिया बल्कि अपनी वकालत भी छोड़ दी। उनका जीने का ढंग तो बिल्कुल ही बदल गया।

इलाहाबाद का आनंद भवन, जिसमें मोतीलाल नेहरू 1900 से सपरिवार रहते थे, पहले एक महल की तरह था। इस महल में शानदार फर्नीचर, बड़े बड़े लान, पानी के फव्वारे, स्विमिंग पूल, टेनिस कोर्ट, अच्छी नस्ल के महंगे घोड़े, नवाबी इक्के, विदेशी कारें

और नौक़रों की लंबी कतारें होती थीं। ऐसी राजसी शान शौकत से मोतीलाल नेहरू रहते थे। उनके सूट विदेशों से सिलकर आते थे। अंग्रेजी अधिकारियों में उनकी प्रतिष्ठा थी। उनकी दावतों और पार्टियों में बुलाया जाना लोग गर्व की बात समझते थे। सुख सुविधा का जीवन उन्हें पसंद था। उनकी जीवन शैली भी पश्चिमी सभ्यता से बहुत प्रभावित थी। बच्चों के लिए गवर्नेस एक अंग्रेज महिला होती थी। अपनी हवेली का नाम 'आनंद भवन' उन्होंने काफी सोच समझकर रखा था। जीवन को सुविधाजनक और आनंदमय रखना मोतीलाल नेहरू के व्यक्तित्व का एक हिस्सा था।

1919 के बाद यह सब बदल गया। अंग्रेजी स्कूलों से बच्चों को हटा लिया गया। अंग्रेजी सूटों की जगह खादी के कुर्ते और धोती ने ले ली। शिकार और शराब पूरी तरह से बंद हो गए। हर प्रकार की सुख सुविधाओं का त्याग कर दिया गया। आनंद भवन का तो नक्शा ही बदल गया। सजावट का हर विदेशी सामान हट गया। इलाहाबाद के अभिजात वर्ग के क्लब की जगह खादीधारी कांग्रेसी नेताओं और कार्यकर्ताओं का हुजूम आनंद भवन में दिखाई देने लगा। नौकरों की संख्या काफी कम कर दी गई। लगभग साठ साल की उम्र में मोतीलाल के जीवन में यह बदलाव अद्भुत और आश्चर्यजनक था। जीवन शैली में इतना बड़ा नाटकीय परिवर्तन कम ही देखने को मिलता है। लेकिन मोतीलाल नेहरू ने यह सब मर्जी से किया था। गांधी जी को एक चिट्ठी में उन्होंने लिखा था कि अपने जीवन का आनंद उन्होंने पहले कभी इतना नहीं उठाया था जितना कि सभी ऐश्वर्य छोड़ने के बाद। दस साल बाद 1930 में उन्होंने आनंद भवन का नाम बदलकर 'स्वराज भवन' रख दिया और इसे कांग्रेस को भेंट कर दिया। आज भी इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पास स्थित आनंद भवन अथवा स्वराज भवन लोगों को मोतीलाल नेहरू के जीवन और त्याग की याद दिलाता है।

1920–21 में मोतीलाल की राजनीति ने एक निश्चित शक्ल ग्रहण की। उनकी राजनीति का विकास धीरे धीरे हुआ था और यह कुछ पड़ावों से होकर गुजरी थी। अंग्रेजी शासन के प्रति नरम रवैया रखने के बाद उन्होंने धीरे धीरे अंग्रेजी सरकार की आलोचना शुरू की। एनी बेसेंट की गिरफ्तारी के बाद वे खुले रूप से अंग्रेजी सरकार के विरोधी हो गए। फिर 1919–20 में वे महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन में शामिल हो गए। उन्होंने अपने जीवन को ही बदल डाला। लेकिन अभी उनकी राजनीति में और परिवर्तन होने बाकी थे।

असहयोग आंदोलन के दौरान मोतीलाल नेहरू ने गांधी जी का साथ दिया। वे जेल भी गए। लेकिन असहयोग आंदोलन वापस लिए जाने के बाद उन्होंने कांग्रेस के सामने एक राजनीतिक विकल्प पेश किया। देशबंधु चितरंजन दास के साथ उन्होंने कौंसिल प्रवेश की राजनीति की वकालत की। इसी उद्देश्य के साथ उन्होंने 1923 में स्वराज पार्टी की स्थापना की। 1923 से 1929 तक मोतीलाल नेहरू इसी वैकल्पिक राजनीति के प्रचार–प्रसार और विकास में लगे रहे।

1929 और 1930 के वर्षों में देश ने एक बार फिर सक्रिय असहयोग की ओर करवट बदली। गांधी जी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत हुई। इस बार मोतीलाल नेहरू की पत्नी स्वरूप रानी, बेटियां विजय लक्ष्मी और कृष्णा और बहू कमला नेहरू ने भी आंदोलन में भाग लिया। मोतीलाल नेहरू एक बार फिर गिरफ्तार हुए। जेल के अंदर उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा जिससे वह उबर नहीं सके। 6 फरवरी 1931 को 70 वर्ष की अवस्था में मोतीलाल नेहरू का निधन हो गया।

देशबंधु चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू दोनों ही नेता बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। दोनों ही राष्ट्रवाद के प्रति समर्पित थे। राष्ट्रीय

आंदोलन में उनका योगदान व्यापक और बहुमूल्य था। 'स्वराजवाद' उनके इसी योगदान का एक हिस्सा था।

3. 1923 के चुनावों में स्वराजवादी

1919 के भारत सरकार अधिनियम के तहत तीन चुनाव 1920, 1923 और 1926 में हुए। 1920 के चुनावों का कांग्रेस ने बहिष्कार कर दिया था। स्वराज पार्टी ने अपने गठन के बाद 1923 और 1926 के चुनावों में हिस्सा लिया। पार्टी के गठन और 1923 के चुनावों के बीच ज्यादा समय नहीं था। इतने कम समय में चुनावों की अच्छी तैयारी कर पाना काफी जोखिम का काम था। नवंबर 1923 में चुनाव होने थे और स्वराज पार्टी की चुनावी गतिविधियां अक्तूबर में शुरू हो पाईं।

चुनावी गतिविधियों के दौरान प्रांतों और जिलों में चुनाव दफ्तर खोले गए। चुनाव प्रचार के लिए कार्यकर्ताओं को एकत्रित किया गया। उम्मीदवारों की सूची तैयार की गई। चुनाव खर्च के लिए पैसा इकट्ठा किया गया। चुनावी घोषणा पत्र तैयार किया गया। चुनाव प्रचार के लिए जनता के सामने रखे जाने वाले मुद्दों पर विचार किया गया। अलग अलग प्रांतों की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए चुनावी प्रचार में बदलाव किए गए। चुनाव प्रचार के लिए पर्चियां और अन्य साहित्य तैयार किया गया।

पार्टी की नीतियां और सिद्धांत फरवरी में और चुनाव घोषणापत्र अक्तूबर में जनता के सामने रखे गए। दोनों ही दस्तावेजों ने स्वराज्य प्राप्ति को पार्टी का लक्ष्य घोषित किया। भारतीयों द्वारा अपना संविधान खुद बनाने का अधिकार इस लक्ष्य की प्राप्ति की ओर एक महत्वपूर्ण

कदम था। स्वराज पार्टी ने यह स्पष्ट किया कि भारत का संविधान भारतीय परिस्थितियों और विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही तैयार किया जा सकता है। इसलिए एक विदेशी सरकार ब्रिटेन में बैठकर भारत के लिए उचित संविधान नहीं बना सकती। स्वराज पार्टी ने अपने घोषणा पत्र में यह मांग की कि अपने देश का संविधान बनाने का अधिकार भारतीयों को मिलना चाहिए। साथ ही घोषणा पत्र ने यह उम्मीद भी जाहिर की कि यह रास्ता अंतत: भारत को स्वराज्य की ओर ले जाएगा।

अपना संविधान खुद तैयार करने की मांग अपने आप में काफी महत्वपूर्ण थी। भारतीय राजनीति में पहली बार इस विचार को रखा गया था। अभी तक अंग्रेजी सरकार ने नए नए अधिनियम बनाकर भारत पर शासन किया था। 1861, 1892, 1909 और 1919 में ऐसे ही एक्ट ब्रिटेन की पार्लियामेंट ने भारत के लिए पास किए थे। भारतीय नेताओं की मांग भी उन 'एक्टों' में सुधार लाने की होती थी, न कि खुद 'एक्ट' बनाने की। अब अपना संविधान खुद बनाने की मांग उठाकर स्वराजवादियों ने राष्ट्रवादी राजनीति को एक नया आयाम दिया। आगे आने वाले सालों में इस मांग ने जोर पकड़ा और आजादी की लड़ाई का एक खास हिस्सा बन गई। 1950 में भारतीय संविधान लागू हुआ। इस संविधान को बनाने का विचार 1923 में स्वराज पार्टी के अंतर्गत किया गया था।

इसके अलावा घोषणा पत्र ने कौंसिल प्रवेश का मतलब समझाया। स्वराजवादियों को यह निर्देश दिया गया कि वे कौंसिलों और असेम्बली का कोई पद स्वीकार नहीं करेंगे। स्वराज पार्टी की सदस्यता भी उन्हीं तक सीमित रखी गई जो कांग्रेस के सदस्य थे। घोषणा पत्र ने यह भी आश्वासन दिया कि कौंसिलों के अंदर और बाहर कांग्रेस के सम्मान और प्रतिष्ठा की रक्षा करना स्वराज पार्टी का पहला कर्तव्य होगा।

चुनावी गतिविधियों के सही संचालन के लिए स्वराजवादियों ने आपस में तय किया कि बंगाल, मध्य प्रदेश (उन दिनों मध्य प्रांत) और दक्षिण भारत में चितरंजन दास, उत्तर प्रदेश (उन दिनों संयुक्त प्रांत) में मोतीलाल नेहरू और बंबई में, विट्ठलभाई पटेल पार्टी का प्रचार और प्रसार करेंगे। उत्तर प्रदेश के पूरे चुनावों में स्वराज पार्टी ने लगभग 25,000 रुपये खर्च किए और बंगाल में 30,000 रुपये। औसतन एक निर्वाचन क्षेत्र का खर्च होता था लगभग 500 रुपये। उस जमाने के हिसाब से भी यह रकम काफी कम थी।

1923 के चुनावों में स्वराज पार्टी का प्रदर्शन सराहनीय तो था पर उसे अपेक्षित सफलता नहीं मिल पाई।

1923 के चुनावों में स्वराज पार्टी का प्रदर्शन

	कुल स्थान	स्वराज पार्टी को प्राप्त स्थान
केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेम्बली	105	42
मद्रास कौंसिल	98	14
बंबई कौंसिल	86	23
बंगाल कौंसिल	111	47
उत्तर प्रदेश कौंसिल	101	31
मध्य प्रदेश कौंसिल	54	40
पंजाब कौंसिल	71	12
बिहार और उड़ीसा कौंसिल*	73	12
असम कौंसिल	39	13

मध्य प्रदेश में स्वराज पार्टी को बहुमत मिला जबकि केंद्रीय असेम्बली, बंबई और बंगाल में वह सबसे बड़ी पार्टी के रूप में

* बिहार और उड़ीसा उन दिनों एक ही प्रांत का हिस्सा थे।

उभर कर सामने आई। उत्तर प्रदेश में भी उसका प्रदर्शन सराहनीय रहा। बाकी जगहों पर स्वराज पार्टी को ज्यादा सफलता नहीं मिली। कुल मिलाकर पार्टी ने 234 स्थान (42 केंद्र में और 192 प्रांतों में) जीते। चुनाव की तैयारी का कम समय देखते हुए यह शानदार प्रदर्शन था। कई स्थानों पर पार्टी अपने उम्मीदवार नहीं खड़े कर पाई थी। बंबई में पार्टी ने 96 में से सिर्फ 24 उम्मीदवार खड़े किए जिनमें से 23 जीते। बिहार और उड़ीसा में 73 में से केवल 13, जिनमें से 12 जीते। इसी तरह से उत्तर प्रदेश के 101 स्थानों में से स्वराजवादी सिर्फ 33 में खड़े हुए और 31 में विजयी रहे।

इस तरह से केंद्रीय असेम्बली और प्रांतीय कौंसिलों में स्वराजवादियों ने अपनी राजनीति की शुरुआत की। 1923 से 1926 तक कौंसिलों और असेम्बली में स्वराजवादियों की शानदार उपलब्धियां रहीं। संवैधानिक विरोध की राजनीति को इन्होंने एक नया रूप दिया। साथ ही अंग्रेज़ी सरकार के खिलाफ कुछ वास्तविक और कुछ मनोवैज्ञानिक विजय हासिल की। 1919 के भारत सरकार अधिनियम ने निर्वाचित विधायकों को जो भी सीमित अधिकार दिए थे उनका स्वराजवादियों ने भरपूर इस्तेमाल किया। निस्संदेह 1923 से 1926 तक के वर्ष राष्ट्रीय आंदोलन में स्वराजवादी राजनीति के रचनात्मक और सकारात्मक हस्तक्षेप के वर्ष साबित हुए।

4. असेम्बली और कौंसिलों में स्वराज पार्टी

केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेम्बली में मोतीलाल नेहरू विपक्ष के नेता बने। चितरंजन दास ने बंगाल कौंसिल में विपक्ष का मोर्चा संभाला। असेम्बली में पहुंचकर मोतीलाल नेहरू का पहला काम था विपक्ष

के लिए बहुमत प्राप्त करना। 145 लोगों की असेम्बली में स्वराज पार्टी के केवल 45 सदस्य थे यानी बहुमत से काफी कम। स्वराजवाद को कारगर बनाने के लिए बहुमत जरूरी था। सरकारी प्रतिनिधियों के अलावा असेम्बली में लिबरल और स्वतंत्र सदस्य थे। बहुमत प्राप्त करने का मतलब था स्वतंत्र और लिबरल सदस्यों को अपनी ओर मिलाना। असेम्बली में यह काम मोतीलाल नेहरू ने काफी कुशलता से किया। असेम्बली का काम उनके व्यक्तित्व के अनुकूल था।

असेम्बली के मंच पर मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य की मांग को सिर्फ स्वराज पार्टी की मांग की तरह नहीं बल्कि एक राष्ट्रीय मांग के रूप में रखा। इस तरह उन्होंने स्वतंत्र और लिबरल सदस्यों को भी स्वराज्य की मांग में शामिल कर लिया। असेम्बली में गैर-सरकारी विपक्ष के प्रति उन्होंने सूझबूझ और दरियादिली से काम लिया। कई मुद्दों पर वे उन्हें अपनी तरफ मिलाने में सफल हुए। असेम्बली में उन्होंने लिबरल और स्वतंत्र सदस्यों को भी देशभक्त घोषित किया और कहा, "हमारे काम करने के तरीके अलग हैं लेकिन इसके अलावा स्वराजवादी, स्वतंत्र और लिबरलों के बीच मतभेद वास्तविक न होकर महज बनावटी है।" इस तरह के व्यवहार से उन्हें असेम्बली में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ एक संयुक्त मोर्चा खड़ा करने में मदद मिली।

जब केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेम्बली की पहली बैठक बुलाई गई उस समय गांधी जी जेल में थे। इसलिए सबसे पहले उन्हें रिहा किए जाने के प्रस्ताव का नोटिस स्वराज पार्टी द्वारा सरकार को दिया गया। यह लगभग तय था कि इस प्रस्ताव को असेम्बली में भारी समर्थन मिलता। इसलिए जिस दिन यह प्रस्ताव रखा जाना था उसी सुबह अंग्रेजी सरकार ने गांधी जी को रिहा कर दिया। लेजिस्लेटिव असेम्बली में यह स्वराज पार्टी की पहली जीत थी।

सितंबर 1924 में मोतीलाल नेहरू ने सदन में एक प्रस्ताव रखा।

इसमें भारत सरकार अधिनियम 1919 की जांच पड़ताल 1929 से पहले की जाने की मांग की। अधिनियम के अनुसार इसका मूल्यांकन दस साल बाद होना था। असेम्बली में सरकारी खेमे से इस मांग का काफी विरोध किया गया। लेकिन जीत स्वराजवादियों की हुई। 1927 में साइमन कमीशन को भारत सरकार अधिनियम 1919 के मूल्यांकन के लिए नियुक्त किया गया। मोतीलाल नेहरू का यह प्रस्ताव सरकारी विरोध के बावजूद बहुमत से पास हो गया।

संविधान निर्माण संबंधी प्रस्तावों पर भी स्वराज पार्टी ने महत्वपूर्ण जीतें हासिल कीं। सरकार की तरफ से इन सभी प्रस्तावों का विरोध हुआ। स्वराज पार्टी ने अपने चुनावी घोषणा पत्र में स्पष्ट किया कि भारत के लिए संविधान बनाने का अधिकार सिर्फ भारतीयों को ही है। मोतीलाल नेहरू ने यह भी कहा था कि ब्रिटिश पार्लियामेंट में बैठे हुए अंग्रेज भारत की जरूरतों, विशेषताओं और परिस्थितियों को नहीं समझ सकते। इन्हें जाने बगैर भारत के लिए संविधान नहीं बनाया जा सकता। इसीलिए भारत के लिए संविधान बनाने में भारतीयों की हिस्सेदारी बहुत जरूरी है। इसलिए उन्होंने असेम्बली में भारत का संविधान बनाने के लिए गोलमेज कांफ्रेंस बुलाने का प्रस्ताव रखा। 1925 में स्वराजवादियों ने प्रस्ताव रखा कि अपने भविष्य को खुद निर्धारित करने के भारतीय जनता के अधिकार को अंग्रेजी सरकार द्वारा मान्यता मिलनी चाहिए। भारत का संविधान भी भारतीय जनता के इस बुनियादी अधिकार पर आधारित होना चाहिए। इस प्रस्ताव को सभी गैर-सरकारी बैंचों से समर्थन मिला और अंतत: इसे स्वीकार कर लिया गया।

1926 के आरंभ में स्वराज पार्टी ने सभी राजनीतिक कैदियों को बिना शर्त रिहा कर देने का प्रस्ताव सदन में रखा। असहयोग आंदोलन के दौरान तथा अन्य कई विरोधों में अंग्रेजी सरकार ने कई राष्ट्रवादियों

को गिरफ्तार किया था। इनमें से कुछ को बगैर मुकदमा चलाए ही जेलों में रखा गया था। इसलिए स्वराज पार्टी ने असेम्बली में इनकी बिना शर्त रिहाई की मांग रखी। खासतौर पर उन कैदियों की जिन पर हिंसा का कोई इल्जाम नहीं था। क्रांतिकारी गतिविधियों में सक्रिय सभी क्रांतिकारियों को अंग्रेजी सरकार ने देश निकाला दे दिया था। उनकी सम्मानपूर्वक वापसी की मांग भी स्वराजवादियों ने रखी। लेकिन दुर्भाय से इस प्रस्ताव को असेम्बली के अन्य सदस्यों का समर्थन नहीं मिला और यह पास न हो सका।

स्वराज पार्टी ने असेम्बली में सरकारी बजट और अन्य प्रस्तावों का हर बार विरोध किया। इस तरह साबित किया कि देश के चुने हुए प्रतिनिधि अंग्रेजी सरकार की नीति और प्रोग्राम के विरोधी थे। जनमत अंग्रेजी शासन के खिलाफ था। अपने तमाम दावों के बावजूद अंग्रेजी सरकार को भारतीय जनता का समर्थन प्राप्त नहीं था। यह कहा जा सकता है कि 1924 और 1925 के वर्षों में स्वराजवादी असेम्बली में सरकार की स्थिति को कमजोर करने में सफल रहे।

असेम्बली में असहयोग का यह सिलसिला 1926 में अधिक समय तक नहीं चल सका। शुरू में मोतीलाल नेहरू ने संवैधानिक मसलों को उठाया। उसे लागू न करने और जनादेश की अवहेलना करने के लिए सरकार की निंदा की। फिर कांग्रेस के आदेशानुसार स्वराज पार्टी के सभी सदस्यों को असेम्बली छोड़कर बाहर निकलने का निर्देश दिया। यह एक बार फिर असेम्बली के बहिष्कार का आह्वान था। मोतीलाल नेहरू ने बाहर निकलने से पहले कहा कि चूंकि सरकार ने उनकी 'स्वराज्य' की मांग अस्वीकार कर दी है, इसलिए असेम्बली छोड़ने के सिवा उनके पास चारा नहीं है। अब 'स्वराज्य' प्राप्त करने के उन्हें और तरीके निकालने होंगे।

असेम्बली छोड़ने से पहले मोतीलाल नेहरू ने सदन में अपना



मोतीलाल नेहरू सदन में भाषण देते हुए

ऐतिहासिक भाषण दिया। उन्होंने देश को याद दिलाया कि 1924 में ही स्वराज पार्टी ने अंग्रेजी सरकार से 'स्वराज्य' की मांग की थी। अंग्रेजी सरकार ने इस मांग को ठुकरा दिया था। "हम जानते हैं कि अब सविनय अवज्ञा आंदोलन हमारा एकमात्र हथियार है, लेकिन सांप्रदायिक वैमनस्य के मौजूदा हालात में यह संभव नहीं। पर हम यह भी जानते हैं कि इस असेम्बली में और प्रांतीय कौंसिलों में अब हमारे लिए कुछ नहीं रह गया है। हम असेम्बली छोड़कर जा रहे हैं लेकिन अभी हमारे पास इतनी शक्ति नहीं है कि इस मजबूत अंग्रेजी साम्राज्य को नष्ट कर सकें। हम पूरी विनम्रता के साथ बाहर जा रहे हैं क्योंकि असेम्बली में अपने उद्देश्य को पूरा न कर पाने की असफलता का अहसास हमें है।" मोतीलाल नेहरू के इस भाषण को सभी अखबारों ने सुर्खियों में छापा। भारत के इतिहास में असेम्बली से 'वाक आउट' का यह पहला उदाहरण था।

1926 के चुनावों के बाद असेम्बली का फिर से गठन हुआ। लेकिन तब तक स्वराज पार्टी की गतिविधियों का पैनापन काफी कम हो गया था। चुनावों में भी स्वराज पार्टी का प्रदर्शन बहुत अच्छा नहीं रहा था। इसके कारणों पर अगले अध्याय में चर्चा की जाएगी। अपनी गतिविधियों में गिरावट के बावजूद स्वराजवादियों ने कई महत्वपूर्ण प्रस्तावों को समर्थन दिया। जैसे लाला लाजपत राय का प्रस्ताव कि हरिजनों के लिए शिक्षा तथा अन्य सभी सुविधाएं मिलनी चाहिए। लाजपत राय ने कहा था कि हरिजनों की शिक्षा के लिए सरकार अपने कोष से एक करोड़ रुपया दे। सारे सार्वजनिक कुएं और सड़कें हरिजनों के लिए खोल दिए जाएं। इसी तरह से साइमन कमीशन के बहिष्कार के प्रस्ताव का भी स्वराज पार्टी ने समर्थन किया।

केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेम्बली में सरकार के विरोध का यह सिलसिला प्रांतीय कौंसिलों में भी जारी रहा। हर प्रांत की कौंसिल में

स्वराज पार्टी ने अंग्रेजी सरकार का जमकर विरोध किया। इस तरह स्वराजवाद के आंदोलन को अखिल भारतीय स्वरूप दिया। जिन प्रांतों में स्वराज पार्टी को बहुमत प्राप्त था वहां वे सरकारी प्रणाली को अवरुद्ध करने में सफल रहे ।

मध्य प्रदेश की कौंसिल में बहुमत होने के कारण स्वराजवाद की राजनीति सबसे अधिक सफल रही। बंगाल में स्वराज पार्टी को बहुमत प्राप्त नहीं था। मगर स्वराज पार्टी के जनक देशबंधु चितरंजन दास की उपस्थिति ने स्वराज पार्टी की गतिविधियों में जान डाल दी। उन्होंने कुछ स्वतंत्र मुसलमान विधायकों के साथ तालमेल करके कौंसिल में सरकार को करारी हार दी। उत्तर प्रदेश कौंसिल में स्वराज पार्टी की गतिविधियां निर्णायक नहीं थीं। फिर भी वहां उनको गैर स्वराजवादियों का अच्छा समर्थन मिला। मद्रास कौंसिल में स्वराज पार्टी ने विपक्ष की पारंपरिक भूमिका निभाई। लेकिन पंजाब और असम कौंसिलों में बहुत ही कम सदस्य होने के कारण स्वराज पार्टी की कोई विशेष भूमिका नहीं रही। पर सारी ही कौंसिलों में स्वराज पार्टी की गतिविधियां एक-सी रहीं। कौंसिलों में विरोध के सारे रास्ते अपनाए गए,सरकारी प्रस्तावों का विरोध किया गया,सरकार में अविश्वास प्रस्ताव रखा गया, सरकारी बजट की आलोचना की गई। सरकार से ऐसे प्रश्न पूछे गए जिनका सरकार के पास कोई जवाब नहीं था। कौंसिलों में किसी प्रकार का पद स्वीकार नहीं किया गया। यह सब स्वराज पार्टी के कार्यक्रम के अनुकूल था।

कुछ अर्थों में स्वराजवाद की राजनीति प्रांतीय कौंसिलों में केंद्रीय असेम्बली की तुलना में ज्यादा कारगर साबित हुई। केंद्र में तो सरकार अपने विशेषाधिकारों का इस्तेमाल करके अपने प्रस्ताव पास कर लेती थी। लेकिन प्रांतीय कौंसिलों का ढांचा कुछ अलग था। 1919 के भारत सरकार अधिनियम ने प्रांतीय कौसिलों में द्वैध शासन के अंतर्गत प्रांतीय प्रशासन को सुरक्षित और हस्तांतरित विभागों में

बांट दिया गया था। सुरक्षित विभागों को सीधा अंग्रेजी शासन के अधीन और हस्तांतरित विभागों को चुने हुए विधायकों के अधीन रखा गया। पुलिस, न्यायपालिका, प्रेस, सिंचाई, भू-राजस्व, कारखाने इत्यादि को सुरक्षित विभागों के तहत रखा गया। इन पर सीधा नियंत्रण अंग्रेजी शासन का था। स्थानीय स्वशासन, स्वास्थ्य, शिक्षा और कृषि हस्तांतरित विषयों में आते थे। इनका संचालन गवर्नर को जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा करना होता था।

दूसरे शब्दों में सुरक्षित विषय कौंसिलों के चुने हुए प्रतिनिधियों के अधिकार क्षेत्र से बाहर थे। लेकिन हस्तांतरित विषयों पर उनका सीधा नियंत्रण था। बंगाल और मध्य प्रदेश में, जहां स्वराज पार्टी का अच्छा प्रतिनिधित्व था। स्वराजवादियों के सामने दो विकल्प थे। वे हस्तांतरित विभागों का प्रशासन सीधा अपने हाथों में ले सकते थे या प्रशासन में रोड़े अटका कर अंग्रेजी सरकार के संवैधानिक प्रयोग को विफल कर सकते थे। अपने घोषणा पत्र के अनुसार स्वराज पार्टी ने जहां जहां भी हो सका, दूसरी नीति को ही अपनाया।

दिसंबर 1923 में जब बंगाल के गवर्नर ने चितरंजन दास को 'हस्तांतरित' विभागों की सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया तो उन्होंने साफ इंकार कर दिया। उन्होंने कहा, "स्वराज पार्टी के सभी सदस्य द्वैध शासन को चलाने के लिए नहीं बल्कि उसे खत्म करने के लिए दृढ़ संकल्प हैं।" अन्य गैर स्वराजवादी प्रतिनिधियों के साथ मिलकर उन्होंने अंग्रेजी सरकार में अविश्वास व्यक्त किया। इस प्रकार द्वैध शासन का संचालन लगभग असंभव कर दिया।

बंगाल की ही तरह मध्य प्रदेश कौंसिल में भी गवर्नर ने हस्तांतरित विभागों के मंत्री पद संभालने के लिए स्वराज पार्टी के नेता बी. एस. मूंजे को आमंत्रित किया। मगर उन्होंने भी मंत्री पद लेने से इंकार कर दिया। तब सरकार ने चुने हुए विधायकों में से अपने समर्थकों को मंत्री नियुक्त कर दिया। इस पर उन्हें गैर प्रतिनिधि करार देते हुए

स्वराज पार्टी ने उनका विरोध किया। कौंसिल में स्वराज पार्टी ने ऐसे मंत्रियों द्वारा इस्तीफा दिए जाने का प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव 24 के मुकाबले 44 मतों से पास हो गया। इस तरह से मध्य प्रदेश कौंसिल में स्वराज पार्टी ने एक संवैधानिक संकट उपस्थित कर दिया। बहुमत होने के बावजूद भी मंत्री पद स्वीकार न करके उन्होंने द्वैध शासन को बिलकुल ठप्प कर दिया। बाकी प्रांतों में भी स्वराज पार्टी के विधायकों ने अंग्रेजी सरकार का विरोध किया।

यह कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीति में स्वराजवादी हस्तक्षेप काफी महत्वपूर्ण था। लेकिन इस राजनीति की अपनी कुछ सीमाएं थीं। इनसे बाहर जाना इसके लिए संभव नहीं था। 1926 में मोतीलाल नेहरू ने स्वीकार किया कि स्वराजवाद की राजनीति देश को स्वराज की ओर ले जाने में असफल रही थी। अपनी बुनियादी मांगों को पूरा करवाने में भी स्वराज पार्टी को अधिक सफलता नहीं मिली थी। कुछ समय बाद अंग्रेजी सरकार ने भी स्वराजवादी विरोध की विशेष चिंता नहीं की। उसने अपने विशेषाधिकारों का इस्तेमाल करके अपने मुख्य प्रस्तावों को 'एक्ट' बनवा लिया । असेम्बली में भीतर से विरोध की राजनीति का नयापन भी धीरे धीरे खत्म होने लगा था।

5. स्वराज पार्टी की उपलब्धियां

अपनी तमाम कमजोरियों और असफलताओं के बावजूद यह नहीं समझ लेना चाहिए कि स्वराज पार्टी का काल उपलब्धियों से रहित था। 1923 और 1926 के बीच स्वराज पार्टी ने राष्ट्रीय आंदोलन में एक निश्चित योगदान दिया। एक सीमा तक अपने मुख्य उद्देश्यों को भी पूरा किया। स्वराज पार्टी के नेता जानते थे कि स्वराजवाद अपने आप में स्वराज्य दिलवाने के लिए काफी नहीं है। लेकिन वह आजादी की लड़ाई में एक सहायक की भूमिका निभा सकता है।

इस सहायक के रूप में स्वराज पार्टी के मुख्य उद्देश्य थे :

- राष्ट्रवाद की अलग अलग परिकल्पना रखने वाले लोगों को एक-दूसरे के पास लाना,
- स्वराज्य की मांग को आगे बढ़ाना,
- देश के जनमत को प्रभावित करना और उसमें जागरूकता लाना, और
- अंग्रेजी सरकार पर संवैधानिक विकास की आवश्यकता के लिए जोर डालना।

अपने पहले उद्देश्य में स्वराजवादी शुरू में काफी सफल हुए। मोतीलाल नेहरू का मानना था कि 1920 के दशक में राजनीतिक शक्तियों का ध्रुवीकरण हो रहा था। अंग्रेजी साम्राज्यवाद और भारतीय राष्ट्रवाद के अंतर्विरोध स्पष्ट हो रहे थे। इस कारण दोनों के बीच की खाई बढ़ती जा रही थी। ऐसे में अलग अलग रुझान रखने वाले सभी राष्ट्रवादी तत्वों का एक साथ होना जरूरी था। मोतीलाल नेहरू की यह उम्मीद थी कि इस ध्रुवीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप देश में केवल दो ही मुख्य शक्तियां रहेगीं, अंग्रेजी नौकरशाही अपने समर्थकों के साथ और उनके खिलाफ स्वराज्य की इच्छुक जनता। स्वराज पार्टी की स्थापना कांग्रेस के एक प्रबल गुट (अपरिवर्तनवादी नेता) से मतभेदों के बाद हुई थी। कांग्रेस के बाहर भी स्वराज पार्टी को कोई खास समर्थन प्राप्त नहीं था। इसलिए असेम्बली प्रवेश के बाद मोतीलाल नेहरू ने सबसे पहले सभी गैर सरकारी, गैर स्वराजवादी सदस्यों का समर्थन लेने का सफल प्रयास किया।

फरवरी 1924 में उन्होंने असेम्बली में घोषणा की कि हम सब (सरकारी प्रतिनिधियों को छोड़कर) स्वराजवादी हैं। असेम्बली में लगातार उनकी कोशिश रही कि गैर सरकारी प्रतिनिधियों के बीच राजनीतिक सर्वसम्मति बने। इस सर्वसम्मति को प्राप्त करने के

लिए उन्होंने मोहम्मद अली जिन्ना (बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों में नरम पंथी कांग्रेसी नेता, उसके बाद सांप्रदायिकता के प्रचारक और अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के नेता, पाकिस्तान के पहले गवर्नर जनरल) के नेतृत्व में कुछ स्वतंत्र नरम पंथी और मुसलमान सांसदों के साथ राजनीतिक समझौता किया। इससे स्वराज पार्टी को असेम्बली में जिन्ना और उनके अनुयायियों का समर्थन मिला। इसी तरह से राष्ट्रवाद के मसले को सामने रखकर उन्होंने मदन मोहन मालवीय और लाला लाजपत राय से भी समझौता किया। अंग्रेजी सरकार ने कोशिश की कि स्वराज पार्टी का गैर स्वराजवादियों के साथ तालमेल न बने। मोतीलाल नेहरू ने 1924 में सरकार की इस फूट डालकर राज्य करने की नीति की भरपूर आलोचना की।

1925 के आसपास असेम्बली में राष्ट्रीय सर्वसम्मति रखने के कार्यक्रम में दरार पड़ने लगी। खुद स्वराज पार्टी के भीतर ही अनबन और मनमुटाव के बीज पनपने लगे। सरकारी प्रशासन में अवरोध डालने की नीति पर ही कुछ लोग प्रश्न चिह्न लगाने लगे। स्वराज पार्टी का अलग अलग राष्ट्रवादी तत्वों को एक साथ लाने का उद्देश्य था। इसमें भी उसे आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई।

अपने दूसरे उद्देश्य में स्वराजवादी लगातार डटे रहे। असेम्बली में बहस के दौरान जब भी मौका मिला, मोतीलाल नेहरू ने अंग्रेजी शासन की जोरदार आलोचनात्मक समीक्षा की। फरवरी 1924 में सरकारी प्रतिनिधियों ने यह दावा किया कि भारत में अंग्रेजी शासन का अस्तित्व एक 'विश्वास' पर आधारित है। भारत में अंग्रेजी शासकों की स्थिति एक 'ट्रस्टी' (देखभाल करने वाले प्रभारी) की है, तो मोतीलाल नेहरू ने उसका बहुत तगड़ा जवाब दिया। उन्होंने सदन के मंच से घोषणा की, "यह विश्वास कैसा है और ये 'ट्रस्टी'

कौन हैं, इस सवाल पर एक वकील की हैसियत से मैंने काफी विचार किया है। इस 'विश्वास' की शुरुआत कब और कैसे हुई? अंग्रेज इस देश में एक व्यापारी की हैसियत से आए थे, फिर उन्हें यहां रुकने में अपना लाभ नजर आया। इसके बाद उन्होंने यहां पर अपना शासन जमाने के बारे में सोचा और उसमें सफल भी हुए। अब मैं नहीं जानता कि इस सब में 'विश्वास' कहां से आ गया। भारतीयों का विश्वास तो कभी प्राप्त ही नहीं किया गया। यह कैसा 'विश्वास' है? क्या यह कानूनी 'विश्वास' है? क्या यह नैतिक 'विश्वास' है? वे (अंग्रेजी शासक) यह भी कह सकते हैं कि भारत पर शासन करने का अधिकार उन्हें ईश्वर या विधाता ने दिया है। मैं तो एक सामान्य व्यक्ति हूं और ईश्वर के रहस्यों को नहीं जानता। पर मैं इतना जरूर समझता हूं कि भारत पर शासन का 'विश्वास' उन्हें कहीं से नहीं मिला है। लेकिन अगर मिला भी है तो 'ट्रस्टी' (अंग्रेजी सरकार) के लिए सबसे बेहतर यही है कि वह उस 'विश्वास' और अधिकार को फौरन भारतीय लोगों को सौंप दें।''

भारत के बारे में अंग्रेजी सरकार के किसी भी दावे का खंडन करने में मोतीलाल नेहरू ने विशेष रुचि दिखाई। अंग्रेजी शासन की ऐसी सटीक और तीखी आलोचना ने स्वराज्य की मांग को एक तार्किक आधार दिया।

अपने तीसरे उद्देश्य में स्वराज पार्टी को अभूतपूर्व सफलता मिली। चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू यह बात अच्छी तरह समझते थे कि असेम्बली और कौंसिलों के अंदर प्रस्ताव रखने और उसे पास कराने से भारतीयों को अंग्रेजी सरकार से कोई विशेष रियायत नहीं मिल जाएगी। न ही इससे उनकी मांगें पूरी हो सकेंगी। लेकिन असेम्बली के भाषण और प्रस्तावों के माध्यम से जनमत पर अच्छा असर डाला जा सकता था। उस समय तक देश में अंग्रेजी

और भारतीय भाषाओं के कई अखबार निकल चुके थे। ये अखबार देश की जनता के एक बड़े हिस्से तक पहुंचते थे। इन सभी अखबारों में असेम्बली की बहसों और प्रस्तावों पर चर्चा की जाती थी, टिप्पणी की जाती थी और संपादकीय लेख लिखे जाते थे। लोग इन्हें चाव से पढ़ते थे। असेम्बली की बहस क्या करवट लेगी, इसकी उत्सुकता से प्रतीक्षा करते थे। उनके लिए मोतीलाल नेहरू, चितरंजन दास और अन्य स्वराजवादी हीरो की तरह हो गए थे क्योंकि ये असेम्बली और कौंसिलों में शक्तिशाली अंग्रेजी साम्राज्यवाद से टक्कर ले रहे थे, उसे निरुत्तर कर रहे थे और प्रस्ताव दर प्रस्ताव शिकस्त भी दे रहे थे।

भारत के लिए संविधान निर्माण पर बहस करते हुए मोतीलाल नेहरू ने कहा, ''इस समय देश के लिए कोई संविधान ही नहीं है जो है (1919 का अधिनियम) उसमें हमारा कोई विश्वास नहीं है। हमारे विचार में देश में ऐसा कोई संविधान हो ही नहीं सकता जिसके निर्माण में उस देश के निवासियों का कोई हाथ न हो। हम ब्रिटिश सरकार के बनाए हुए संविधान को संविधान की मान्यता नहीं दे सकते। हम जनता के द्वारा चुने जाकर असेम्बली में इसलिए नहीं आए हैं कि सिर्फ सवाल पूछने और सरकार की मदद करने का नीरस और उबाऊ काम करें। हम यहां पुराने अधिनियमों को ध्वस्त करने आए हैं और भारत के लिए नए भविष्य का निर्माण करने आए हैं।

अखबारों में इस तरह की बहस को लोग दिलचस्पी से पढ़ते थे और प्रेरित भी होते थे। साथ ही संवैधानिक मसलों की जानकारी भी उन्हें मिलती थी। और अंत में, स्वराजवादियों की शायद सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने अंग्रेजी शासन के ही तर्क का इस्तेमाल करते हुए उसका विरोध किया।

दूसरे शब्दों में, स्वराज पार्टी ने अंग्रेजी सरकार से लड़ाई उसके ही मैदान पर लड़ी। उदाहरण के लिए अंग्रेजी सरकार ने 1909 और

1919 में भारत के लिए अधिनियम बना कर एक लोकतांत्रिक शुरुआत करने का दावा किया। स्वराजवादियों ने इन अधिनियमों में जितनी भी आधी-अधूरी लोकतांत्रिक संभावनाएं थीं, उनका इस्तेमाल किया और इस प्रक्रिया में इन अधिनियमों की कमियों को उजागर किया। 1919 के अधिनियम के चुनावी प्रावधान का सहारा लेकर मोतीलाल नेहरू ने असेम्बली में प्रवेश किया। उन्होंने वहां घोषणा की कि 1919 के अधिनियम से देश में तानाशाही खत्म नहीं हुई है। बल्कि उसे महज एक लोकतांत्रिक जामा पहना दिया गया है। मोतीलाल नेहरू की आलोचना में उन कांग्रेसी नेताओं द्वारा की गई आलोचना से ज्यादा विश्वस्नीयता थी जिन्होंने असेम्बली में गए बगैर ही उसका विरोध किया था।

अक्सर अंग्रेजी सरकार भारत में अपनी उपस्थिति का औचित्य सांप्रदायिकता के नाम पर देती थी। अंग्रेजी सरकार का तर्क था कि भारत अनेक जातियों और धर्मों का देश है। एक अंग्रेजी सरकार ही है जो उन्हें आपस में लड़ने से रोके हुए है। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ने अपने एक महत्वपूर्ण भाषण में कहा कि भारत में सारे यूरोप से कहीं ज्यादा धर्म और जातियां हैं। देश की इस अनेकता की हालत में अंग्रेजी सरकार का कोई विकल्प नहीं है। उनके अनुसार अगर ब्रिटेन भारत से अपना मजबूत हाथ खींच ले तो भारत में सिर्फ विभाजन, अनबन, पारस्परिक फूट और अराजकता के अलावा कुछ नहीं रह जाएगा।

मोतीलाल नेहरू ने असेम्बली में ब्रिटिश प्रधानमंत्री के इस वक्तव्य पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। उन्होंने इस तर्क को स्वीकारा कि भारत कई जातियों और धर्मों का देश है। कभी कभी उनमें (उदाहरण के लिए हिंदुओं और मुसलमानों में) आपसी तनाव भी हो जाता है। लेकिन मोतीलाल नेहरू ने यह स्पष्ट किया कि उनमें फूट पड़ने की

खास वजह अंग्रेजी सरकार और उसकी नीतियां हैं। इसलिए एक बार स्वराज्य स्थापित होने के बाद इन तत्वों और अराजकता में भी कमी आ जाएगी। इस तरह मोतीलाल नेहरू ने अंग्रेजी सरकार के तर्क को स्वराज्य के पक्ष में एक दलील बनाकर प्रस्तुत किया। भारत की जिस अनेकता और सांप्रदायिक हिंसा का इस्तेमाल अंग्रेजी सरकार ने भारत में अपनी उपस्थिति को सही ठहराने के लिए किया, उसी अनेकता और सांप्रदायिक हिंसा को मोतीलाल नेहरू ने अंग्रेजी साम्राज्यवाद का एक कारण मानते हुए स्वराज्य को एक आदर्श विकल्प के रूप में सामने रखा।

मोतीलाल नेहरू ने अंग्रेजी सरकार का अक्सर मजाक भी उड़ाया। ब्रिटेन के राजा ने एक वक्तव्य जारी किया कि उनके चार साल के शासन काल में चार प्रधानमंत्री और चार अलग सरकारें आईं। सभी ने 1919 के अधिनियम को उचित ठहराया। इसलिए ब्रिटेन के राजा के अनुसार भारतीय नेताओं द्वारा अधिनियम की आलोचना आधारहीन है। इसका उत्तर देते हुए मोतीलाल नेहरू ने असेम्बली में कहा, "मैं सरकार से सिर्फ एक सवाल पूछना चाहता हूं। अगर इस दौरान चार की जगह तीन गुना ज्यादा यानी बारह प्रधानमंत्री और सरकारें ब्रिटेन में आई होतीं तो क्या भारत सरकार अधिनियम तीन गुना बेहतर हो जाता?" अंग्रेजी सरकार के पास उनके इस व्यंग्य का कोई जवाब नहीं था।

स्वराजवादी राजनीति के औचित्य को पहली और दूसरी असेम्बली की गतिविधियों की तुलना करके भी समझा जा सकता है। 1920 के चुनावों का बहिष्कार करने के कारण पहली असेम्बली में अंग्रेजी सरकार का कोई विरोध नहीं हुआ। लगभग सारे सरकारी प्रस्ताव बगैर किसी अड़चन के पास हो गए। इसके विपरीत 1923 और 1926 के दौरान सरकारी बिलों को सबसे ज्यादा अड़चनों का सामना करना पड़ा। पांच बार सरकार को अपने बिल वापस लेने पड़े। चार बार अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करके उन्हें पास करना पड़ा।

स्वराजवादियों के उत्साह, गतिविधियों और सक्रियता का अंदाज उत्तर प्रदेश कौंसिल के प्रमुख स्वराजवादी मुकन्दीलाल के इस वक्तव्य से लगाया जा सकता है, "दो वर्षों में मैंने कौंसिल में 972 प्रश्न पूछे, 155 भाषण दिए और तीन सफल प्रस्तावों को रखा।"

6. 1926 के चुनाव : पतन और विघटन

1926 के चुनावों के समय तक देश का माहौल काफी बदल चुका था। स्वराज पार्टी के बाहर और भीतर काफी तब्दीलियां आ चुकी थीं। इनका असर 1926 के चुनाव परिणामों पर और स्वराजवाद की राजनीति पर पड़ना निश्चित था। परिणामस्वरूप स्वराज पार्टी की गतिविधियों में काफी गिरावट आई।

असहयोग आंदोलन समाप्त होने के बाद देश में सांप्रदायिक हिंसा का एक बड़ा दौर आया। देश के कई भागों में हिंदू-मुस्लिम हिंसा भड़क उठी। अकेले उत्तर प्रदेश में ही 1923 और 1927 के बीच 91 सांप्रदायिक दंगे हुए। इस हिंसा का राजनीति पर काफी बुरा असर पड़ा। हिंदुओं और मुसलमानों में राजनीतिक मतभेद बढ़ने लगे। स्वराज पार्टी हिंदू-मुस्लिम एकता में विश्वास करती थी। लेकिन इस बिगड़ते माहौल में स्वराजवादी नेता अक्सर अपने हिंदू और मुस्लिम सदस्यों को इकट्ठा रखने में असमर्थ रहे। अंग्रेजी सरकार ने भी इस परिस्थिति का भरपूर लाभ उठाया। उसने हिंदुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे से अलग करने की पूरी कोशिश की।

1925 में देशबंधु चितरंजन दास के आकस्मिक निधन से भी स्वराजवादियों को गहरा धक्का पहुंचा। खासतौर से बंगाल में स्वराज पार्टी का खेमा काफी कमजोर पड़ गया। धीरे धीरे लोगों में भी स्वराज पार्टी के प्रति उत्साह कुछ कम हुआ। खासतौर पर उन लोगों



सांप्रदायिक दंगे

को जिन्हें यह उम्मीद थी कि स्वराजवादी कौंसिलों में जाकर कई लोकप्रिय बिल पास करवा सकेंगे। उन्हें यह देखकर बहुत निराशा हुई कि स्वराजवादी अपनी सारी कोशिशों के बावजूद सरकारी बिलों को कानून बनने से नहीं रोक पा रहे हैं। सरकार अपने विशेषाधिकार का इस्तेमाल करके अपने हर विधेयक को कानून का प्रमाण पत्र देती जा रही थी। इस सबको देखकर लोगों में कौंसिल प्रवेश की राजनीति से थोड़ा मोह भंग होना शुरू हुआ। कौंसिलों में सरकार के विरोध की राजनीति उन्हें निष्फल लगने लगी और उसका नयापन भी धीरे धीरे कम होता गया।

एक और बात यह हुई कि स्वराज पार्टी के अंदर भी गुटबंदी होने लगी। कुछ पुराने समर्थकों ने भी असेम्बली में पार्टी का साथ छोड़ दिया। कुछ स्वराजवादी कौंसिलों में रोड़े अटकाने की नीति का ही विरोध करने लगे। वे अंग्रेजी सरकार के साथ कुछ मसलों पर सहयोग की भी बात करने लगे। इनमें प्रमुख थे महाराष्ट्र के नरसिंह चिंतामणि केलकर। पंजाब के लाला लाजपत राय और उत्तर प्रदेश के मदन मोहन मालवीय ने स्वराज पार्टी को समर्थन दिया था। बाद में वे भी स्वराज पार्टी से विमुख हो गए।

स्वराज पार्टी का कौंसिलों में पद ग्रहण न करने का जो संकल्प था, वह भी धीरे धीरे कमजोर पड़ गया। कई सदस्यों ने केंद्र में और प्रांतों में सरकारी पद स्वीकार कर लिए। अगस्त 1925 में विट्ठलभाई पटेल (लेजिस्लेटिव असेम्बली में स्वराज पार्टी के प्रमुख नेता, स्वतंत्र भारत के पहले गृह मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल के बड़े भाई) ने असेम्बली का अध्यक्ष बनना स्वीकार कर लिया। अक्तूबर 1925 में ताम्बे (मध्य प्रदेश कौंसिल में स्वराज पार्टी के अध्यक्ष) ने भी मध्य प्रदेश के गवर्नर द्वारा नियुक्त कार्यकारिणी समिति का सदस्य होना स्वीकार कर लिया। ताम्बे का यह फैसला स्वराज पार्टी के किसी भी सदस्य द्वारा सरकारी पद को स्वीकार न करने के सिद्धांत के खिलाफ था। मोतीलाल नेहरू ने तुरंत ही इसकी

भर्त्सना की। लेकिन ताम्बे के इस पद ग्रहण का स्वराज पार्टी के कई अन्य नेताओं ने समर्थन किया। केलकर के अलावा मुकुंद राम जयकर ने भी ताम्बे का पक्ष लेते हुए स्वराज पार्टी की नीतियों में बदलाव लाने की वकालत की। उनके अनुसार सरकारी कार्यवाही में रोड़े अटकाने की बजाए स्वराज पार्टी को रचनात्मक सहयोग की बात करनी चाहिए। यह स्वराज पार्टी के बुनियादी सिद्धांतों के खिलाफ एक विद्रोह था। इसने पार्टी को लगभग दो खेमों में बांट दिया। अंग्रेजी सरकार ने भी स्वराजवादियों में फूट और आपसी विरोध पैदा करके अपना उल्लू सीधा किया। तरह तरह की रियायतें और ऊंचे ओहदों के प्रलोभन दिए गए। इन सब बातों का नतीजा यह हुआ कि 1926 के चुनावों के समय तक स्वराज पार्टी की हालत काफी कमजोर हो गई।

जैसा कि अपेक्षा थी, 1923 की तुलना में 1926 में स्वराजवादियों का प्रदर्शन निराशाजनक रहा। केवल मद्रास और बिहार कौंसिल में ही उनका प्रदर्शन सराहनीय रहा। पंजाब और असम में उनकी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। बाकी सब जगहों पर उनकी सीटें कम हो गईं।

1926 के चुनावों में स्वराजवादी

	कुल स्थान	*स्वराज पार्टी को प्राप्त स्थान*	
		1923	1926
केंद्रीय असेम्बली	105	42	35
मद्रास कौंसिल	98	14	45
बंबई कौंसिल	86	23	11
बंगाल कौंसिल	111	47	44
उत्तर प्रदेश कौंसिल	101	31	19
मध्य प्रदेश कौंसिल	54	40	17
पंजाब कौंसिल	71	12	13
बिहार और उड़ीसा कौंसिल	73	12	35
असम कौंसिल	39	13	19

1926 की नवगठित असेम्बली और कौंसिलों में स्वराज पार्टी की स्थिति पहले की तुलना में कमजोर हो गई थी। लेकिन मोतीलाल नेहरू ने इसकी परवाह नहीं की। उन्होंने विपक्ष के नेता की हैसियत से असेम्बली में सरकार का विरोध करना शुरू कर दिया।

एक साल के अंदर राजनीतिक परिस्थितियां फिर से बदलीं और देश के वातावरण में फिर से असहयोग की गरमी आई। इस असहयोग के माहौल में स्वराजवाद की राजनीति के नए दौर की शुरुआत हुई। यह दौर था स्वराज पार्टी के कांग्रेस की ओर लौटने का। स्वराजवाद गांधीवादी असहयोग के नजदीक आने का। इस सबका मुख्य कारण था 'साइमन कमीशन'।

साइमन कमीशन : असहयोग की वापसी

भारत सरकार अधिनियम की एक धारा के अनुसार दस साल के बाद, यानी 1929 में, इस अधिनियम पर पुनर्विचार किया जाना था। भारत को और संवैधानिक अधिकार दिए जाएं या नहीं, यह भी तय किया जाना था। सितंबर 1924 में मोतीलाल नेहरू ने असेम्बली में यह प्रस्ताव रखा कि 1919 के अधिनियम पर पुनर्विचार 1929 से पहले ही किया जाए। सरकारी विरोध के बावजूद यह प्रस्ताव बहुमत से पास हो गया। इसके नतीजे के तौर पर 1927 में ब्रिटिश सरकार ने सात सदस्यों की एक कमीशन की नियुक्ति की जिसे इसके अध्यक्ष जॉन साइमन के नाम से जाना गया। इस कमीशन में किसी भारतीय को स्थान नहीं दिया गया। कमीशन के सारे सदस्य अंग्रेज थे। इस 'संपूर्ण गोरी' कमीशन का काम था भारतीयों को दिए जाने वाले अधिकारों को निर्धारित करना और भारत के संवैधानिक भविष्य पर एक रिपोर्ट तैयार करना।

1922 से भारतीयों में अंग्रेजी शासन के खिलाफ असंतोष बढ़ रहा था। ब्रिटिश सरकार के इस फैसले ने आग में घी का काम किया। पूरे देश में आक्रोश की लहर फैल गई। सारे राष्ट्रवादी तत्व,

जो एक-दूसरे से अलग थलग पड़ गए थे, एक बार फिर इकट्ठे हो गए। मोतीलाल नेहरू ने फैसला किया कि कौंसिलों के अंदर से विरोध न करके विरोध को कौंसिलों के बाहर ले जाना होगा।

केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेम्बली में लाला लाजपत राय ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का प्रस्ताव रखा। मोतीलाल नेहरू ने इसका जोरदार समर्थन किया। उन्होंने असेम्बली के मंच से घोषणा की : "ब्रिटिश पार्लियामेंट, ब्रिटिश जनता और ब्रिटिश सरकार को यह रत्ती भर भी अधिकार नहीं है कि वे हम भारतीयों पर हमारी मर्जी के खिलाफ कोई संविधान थोपें।" जैसा कि स्पष्ट था, सरकारी प्रतिनिधियों और अंग्रेज भक्तों ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का विरोध किया। फिर भी बहिष्कार प्रस्ताव 62 वोटों के मुकाबले 68 वोटों से पास हो गया।

तय यह पाया गया कि सिर्फ बहिष्कार ही काफी नहीं बल्कि साइमन कमीशन का एक रचनात्मक विकल्प भी तैयार करना चाहिए। इसका मतलब यह था कि भारतीय नेताओं को साइमन कमीशन से कोई सरोकार न रखते हुए भारत के लिए एक संविधान बनाना चाहिए। अपना संविधान खुद बनाने का अधिकार स्वराज पार्टी की बुनियादी मांगों में से एक था। अंग्रेजी शासकों ने अक्सर भारतीयों की इस क्षमता पर शक जाहिर किया था। उनका कहना था कि राष्ट्रवादी नेता अंग्रेजी शासन की आलोचना में तो माहिर हैं लेकिन अंग्रेजी शासन का संवैधानिक विकल्प तैयार कर पाना उनके बस की बात नहीं। शायद यही वजह थी कि भारत के राजनीतिक भविष्य के लिए काफी महत्वपूर्ण कमीशन में उन्होंने एक भी भारतीय नेता को नहीं रखा था।

अंग्रेजी शासकों का यह दावा और भारतीय नेताओं के प्रति तिरस्कारपूर्ण रवैया, स्वराजवादी राजनीति के लिए एक बड़ी चुनौती था। मोतीलाल नेहरू ने इस चुनौती को स्वीकार किया। इस तरह

भारत के लिए एक स्वराजवादी संविधान बनाने का सिलसिला शुरू हुआ।

साइमन कमीशन के सफल बहिष्कार के बाद फरवरी 1928 में डा0 अंसारी की अध्यक्षता में सभी राजनीतिक पार्टियों का एक सम्मेलन दिल्ली में हुआ। इस सम्मेलन में भारत का संविधान बनाने के लिए एक उप-समिति का गठन किया गया। मोतीलाल नेहरू इस उप-समिति के अध्यक्ष बने। इस उप-समिति का काम था अगले कुछ महीनों में देश के सामने एक संविधान की रूपरेखा प्रस्तुत करना।

संविधान निर्माण स्वराजवादी राजनीति का एक अभिन्न अंग था। अगर कौंसिल प्रवेश स्वराजवाद की शुरुआत थी तो संविधान निर्माण उसकी पराकाष्ठा। जुलाई 1928 में इस समिति ने एक संविधान देश के सामने रखा। इस संविधान को नाम दिया गया 'नेहरू रिपोर्ट'। 'नेहरू रिपोर्ट' के तैयार करने में मोतीलाल नेहरू के अलावा प्रमुख लिबरल नेता सर तेज बहादुर सप्रू ने भी विशेष भूमिका निभाई।

नेहरू रिपोर्ट की एक विशेषता यह थी कि इसने आजादी के इच्छुक भारतीयों को एक मनोवैज्ञानिक राहत दी। ऐसा लगने लगा मानो भारत ने आजादी के लंबे सफर का एक खास पड़ाव तय कर लिया है। प्रसिद्ध नेता एनी बेसेंट ने इस भावना को इन शब्दों में व्यक्त किया, ''गुलामी के दिन खत्म हो रहे हैं और आजादी की सुबह पूर्व के क्षितिज पर दिखाई देने लगी है।''

7. नेहरू रिपोर्ट

नेहरू रिपोर्ट को आधुनिक भारत के इतिहास में वह दर्जा प्राप्त नहीं है जो उसे मिलना चाहिए। इसके महत्व को भी इतिहासकारों द्वारा अच्छी तरह से पहचाना नहीं गया है। 'नेहरू रिपोर्ट' भारत के लिए एक संविधान की रूपरेखा तैयार करने का प्रयास था। इसका जन्म स्वराज पार्टी की राजनीतिक गतिविधियों के तहत हुआ था। इसके निर्माण में मोतीलाल नेहरू ने अहम भूमिका निभाई थी। वैसे इसके बनाने में और कई नेताओं का भी योगदान था लेकिन संविधान बनाने की परिकल्पना स्वराज पार्टी की ही देन थी।

हालांकि नेहरू रिपोर्ट का औपचारिक महत्व 1929 के बाद खत्म हो गया लेकिन इसने भारतीय राजनीति को निश्चित रूप से समृद्ध किया। इसकी कई विशेषताएं थीं :

* इसने स्वतंत्र भारत के संविधान के लिए अग्रदूत का काम किया। नेहरू रिपोर्ट की मूल भावना और इसके कई अनुच्छेदों को बगैर किसी बदलाव के भारतीय संविधान में शामिल किया गया।
* यह भारतीयों द्वारा तैयार किया गया अपनी तरह का पहला दस्तावेज था जिसने इस अंग्रेजी दावे को ध्वस्त किया कि भारतीयों में स्वराज्य की क्षमता नहीं है।
* हालांकि 1926 के बाद स्वराज पार्टी का काफी पतन हुआ और इसकी गतिविधियों में भी कमी आई, लेकिन 'नेहरू रिपोर्ट' ने स्वराजवाद की मूल भावना को जीवित रखा।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, असहयोग आंदोलन वापस लिए जाने के बाद देश में चारों ओर सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे थे। आंदोलन के दौरान रखी गई हिंदू-मुस्लिम एकता की नींव कमजोर



मोतीलाल नेहरू 'नेहरू रिपोर्ट' प्रस्तुत करते हुए

पड़ने लगी थी। राजनीति में भी हिंदू और मुस्लिम सांप्रदायिकता ने प्रवेश करना शुरू कर दिया था। हिंदू और मुसलमानों की तरफ से क्रमश: अखिल भारतीय हिंदू महासभा और अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने राजनीति में अपनी हिस्सेदारी के लिए अपने दावे प्रस्तुत कर दिए थे। संभावना थी कि अंग्रेजी सरकार हिंदू और मुस्लिम राजनीतिज्ञो को एक-दूसरे से अलग रखने की कोशिश करेगी। राजनीति में सांप्रदायिकता के इस उभार से अंग्रेजी शासन के खिलाफ राष्ट्रवादी संघर्ष के कमजोर पड़ने का पूरा खतरा था। इसलिए यह महसूस किया गया कि देश की सारी राजनीतिक पार्टियां मिलकर सर्वसम्मति से एक संविधान का निर्माण करें। जिससे हिंदू-मुस्लिम समस्या का संवैधानिक हल ढूंढ़ा जा सके।

इसके अलावा साइमन कमीशन के आगमन और उसके संपूर्ण विदेशी स्वरूप ने भारतीय नेताओं के लिए यह अनिवार्य कर दिया कि उसका बहिष्कार किया जाए।

एक नए संविधान के रूप में उसका एक विकल्प तैयार करना भी आवश्यक था। 1926 के बाद लेजिस्लेटिव असेम्बली में स्वराजवादी विरोध कमजोर पड़ने लगा था। मोतीलाल नेहरू की दिलचस्पी असेम्बली के भीतर कम और उसके बाहर की गतिविधियों में बढ़ रही थी। इसलिए एक नयी स्वराजवादी गतिविधि की आवश्यकता महसूस हो रही थी। नेहरू रिपोर्ट ने इसे पूरा किया।

नेहरू रिपोर्ट के घटना चक्र की शुरुआत 1927 के अंत में हुई। जब कांग्रेस ने मद्रास सत्र में एक स्वराज्यवादी संविधान बनाने का प्रस्ताव रखा। फिर फरवरी 1928 में सभी राजनीतिक पार्टियों के एक सम्मेलन में संविधान बनाने के लिए एक उपसमिति का गठन किया गया। मोतीलाल नेहरू और लिबरल नेता तेज बहादुर सप्रू के अलावा और पार्टियों के सदस्य भी इसमें शामिल थे। नेहरू कमेटी ने सात अध्याय, दो अनुच्छेद और तीन परिशिष्ट वाली एक रिपोर्ट

तैयार की। इस रिपोर्ट ने प्रशासन संबंधी सभी विषयों पर अपनी स्पष्ट राय जाहिर की।

नेहरू रिपोर्ट अपने आप में एक अभूतपूर्व दस्तावेज था। भारतीय राजनीति में इससे पहले इस तरह का प्रयास कभी नहीं किया गया था। अंग्रेजों द्वारा भारत के लिए बनाए गए अधिनियमों की आलोचना तो पहले की गई थी। लेकिन ब्रिटिश सरकार के भारत के लिए अधिनियम बनाने के अधिकार को चुनौती नहीं दी गई थी। खुद अपने आप में संविधान बनाना तो दूर की बात थी।

भीमराव आम्बेडकर के नेतृत्व में स्वतंत्र भारत के लिए बनाए गए संविधान और नेहरू रिपोर्ट को अगर साथ साथ पढ़ा जाए तो दोनों में काफी समानताएं दिखेंगी। स्वतंत्र भारत के संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकारों की घोषणा, संसदीय प्रणाली की सरकार, लोक सभा के दो सदनों की व्यवस्था, वयस्क मताधिकार, केंद्र और राज्यों के बीच में विभागों का बंटवारा, प्रादेशिक सीमाओं का भाषाई आधार पर पुनर्गठन, उच्चतम न्यायालय और स्वतंत्र न्यायपालिका का प्रावधान निश्चित रूप से नेहरू रिपोर्ट की ही देन हैं।

जहां एक तरफ नेहरू रिपोर्ट ने स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त किया, वहीं दूसरी तरफ इस तरह के अंग्रेजी सरकार के प्रयासों से बिलकुल ही अलग हटकर संविधान की रूपरेखा तैयार की । नेहरू रिपोर्ट कई मायनों में 1909 और 1919 के भारत सरकार अधिनियमों से भिन्न थी।

अंग्रेजी सरकार ने हिंदू और मुसलमानों के लिए अलग अलग निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था की थी। इसके तहत हिंदू और मुसलमानों के अलग अलग चुनाव क्षेत्र, मतदाता सूची और उम्मीदवार होते थे। एक हिंदू मतदाता मुसलमान उम्मीदवार के लिए और मुसलमान मतदाता हिंदू उम्मीदवार के लिए वोट नहीं डाल सकता था। असेम्बली और कौंसिलों में हिंदू और मुस्लिम सांसद और विधायक अपने

अपने संप्रदाय के लोगों का ही प्रतिनिधित्व करते थे। क्योंकि उन्हीं के वोट लेकर वे असेम्बली और कौंसिलों में आते थे। अंग्रेजों द्वारा बनाई गई चुनाव की इस प्रणाली ने हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करने के रास्ते में रोड़े अटकाए। राष्ट्रवादी नेता शुरू से ही इस व्यवस्था के खिलाफ थे। वे इसे समाप्त करना चाहते थे।

नेहरू रिपोर्ट ने अपनी रूपरेखा में इस पृथक निर्वाचन प्रणाली को पूरी तरह से खत्म कर दिया। इसके स्थान पर सभी मतदाताओं को एक साथ वोट देने का अधिकार दिया। इस संयुक्त निर्वाचन प्रणाली के अनुसार वोटों का बंटवारा धर्म के आधार पर नहीं किया गया था। केंद्र और प्रांतों में अल्प संख्यकों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुसार सीटों का आरक्षण कर दिया गया था। उदाहरण के लिए मुसलमानों की जनसंख्या देश की जनसंख्या का लगभग 25 प्रतिशत थी (1921 की जनगणना के अनुसार)। इसलिए केंद्रीय असेम्बली में मुसलमानों के लिए 25 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था नेहरू रिपोर्ट ने की। लेकिन धर्म के आधार पर मतदाताओं को अलग नहीं किया गया।

मताधिकार के प्रश्न पर भी नेहरू रिपोर्ट ने अंग्रेजी सरकार के अधिनियमों से बिल्कुल अलग रास्ता अपनाया। 1909 और 1919 के अधिनियमों के अनुसार कुल जनसंख्या के बहुत छोटे से हिस्से को वोट डालने और अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया था। 1909 में सारे देश में केवल चार हजार मतदाता थे। 1919 में मतदाताओं की संख्या बढ़ाई तो गई लेकिन फिर भी यह कुल जनसंख्या के तीन प्रतिशत से भी कम थी। मतदाताओं का चुनाव संपत्ति और आमदनी के आधार पर किया गया था। लेकिन नेहरू रिपोर्ट ने इसके स्थान पर वयस्क मताधिकार की वकालत की। नेहरू रिपोर्ट के अनुसार इक्कीस वर्ष से ऊपर के हर नागरिक को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए। इस तरह से नेहरू रिपोर्ट कई मायनों में अंग्रेजी सरकार के अधिनियमों से गुणात्मक

रूप से भिन्न थी।

जैसी कि उम्मीद थी अंग्रेजी सरकार ने नेहरू रिपोर्ट को कोई भी मान्यता देने से साफ इंकार कर दिया। दुर्भाग्य से कई भारतीय पार्टियों ने भी इसकी सिफारिशों को अस्वीकार कर दिया। मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा जैसी पार्टियों की मांगें परस्पर विरोधी थीं। दोनों की मांगों को नेहरू रिपोर्ट में शामिल कर पाना असंभव था। ऐसे में सभी पार्टियों के लिए मान्य रिपोर्ट तैयार कर पाना काफी मुश्किल हो गया। नेहरू कमेटी ने रिपोर्ट तैयार तो कर दी पर उस पर सर्वसम्मति नहीं मिल सकी। नतीजा यह हुआ कि नेहरू रिपोर्ट महज एक अकादमिक दस्तावेज बन कर रह गई। देश का प्रशासन पहले की तरह अंग्रेजी अधिनियमों के द्वारा ही होता रहा। 1935 में ब्रिटेन की पार्लियामेंट ने भारत के लिए एक और अधिनियम बनाया जो 1947 तक लागू रहा। मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में नेहरू कमेटी की कई महीनों की कड़ी मेहनत का देश को कोई तात्कालिक और ठोस फायदा नहीं हुआ।

लेकिन नेहरू रिपोर्ट ने मनोवैज्ञानिक स्तर पर भारतीय राजनीति को काफी प्रभावित किया। नेहरू रिपोर्ट ने ब्रिटेन की जनता और दुनिया को यह दिखा दिया कि भारतीयों की आजादी की मांग खोखली और कोरी भावुकता पर नहीं बल्कि रचनात्मक योजना पर आधारित है। स्वराज पार्टी की असेम्बली में अड़चनें डालने की नीति और साइमन बहिष्कार के कारण कुछ अंग्रेजी अधिकारियों ने यह कहना शुरू कर दिया था कि भारतीयों के पास कोरी आलोचना के अलावा कोई व्यावहारिक विकल्प नहीं है। नेहरू रिपोर्ट ने राष्ट्रवादी राजनीति को एक सार्थकता और विश्वस्नीयता भी प्रदान की। 1930 और 1940 के दशकों में जवाहरलाल नेहरू ने अपना संविधान खुद बनाने की मांग को काफी जोरदार और प्रभावशाली ढंग से रखा।

नेहरू रिपोर्ट के द्वारा एक संविधान का निर्माण स्वराजवादी राजनीति का चरमोत्कर्ष था। इस राजनीति की शुरुआत कौंसिल

प्रवेश के कार्यक्रम से हुई थी और 'कौंसिल प्रवेश' की राजनीति ने स्वराज पार्टी को कांग्रेस से थोड़ा दूर कर दिया था। नेहरू रिपोर्ट ने 'कौंसिल प्रवेश' की स्वराजवादी राजनीति को अगले पड़ाव तक पहुंचाया और इस पड़ाव तक आते आते परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों के बीच की दूरी पूरी तरह से खत्म हो गई। स्वराज पार्टी के घोषणा पत्र ने 1923 में स्वराज्य को अपना लक्ष्य घोषित किया था और संविधान निर्माण को उस लक्ष्य की ओर ले जाने वाला पहला कदम। इस चरण को पूरा करने के बाद कांग्रेस के अंदर स्वराज पार्टी की अलग पहचान का कोई औचित्य नहीं रह गया था। 1923 में मुख्य धारा से निकलने के बाद और कुछ समय तक समांतर रूप से चलने के बाद स्वराज पार्टी 1928 तक आते आते फिर उसी मुख्य धारा में समा गई।

8. सारांश

किसी भी राजनीतिक पार्टी के जीवन में पांच साल का समय बहुत कम होता है। लेकिन इस थोड़े समय में भी स्वराज पार्टी की उपलब्धियां काफी शानदार और महत्वपूर्ण रहीं। असेम्बली के अंदर और असेम्बली के बाहर, तात्कालिक और दूरगामी, मनोवैज्ञानिक और वास्तविक, विचारों के स्तर पर और गतिविधियों के स्तर पर, लगभग हर प्रकार की उपलब्धियां स्वराज पार्टी ने अपने अस्तित्व के थोड़े से समय में अर्जित कीं। अपने समय की और अपने समय के बाद की राजनीति को स्वराज पार्टी ने बहुत गहराई से प्रभावित किया। कई मायनों में स्वराज पार्टी की राजनीतिक विरासत आज भी हमारे साथ है।

1923 से 1926 के अपने सक्रिय कार्यकाल में स्वराज पार्टी ने कई तरह के कानून बनवाए या बने हुए कानूनों में संशोधन करवाया।

अंग्रेजी शासन के तहत नमक पर भी टैक्स लिया जाता था। स्वराज पार्टी ने नमक टैक्स और रेल के भाड़े में कमी करवाई। राष्ट्रीय उद्योगों के संरक्षण के लिए आयात शुल्क लागू किया गया जिससे देश में बना हुआ सामान आसानी से बाजारों में पहुंचे। सूती कपड़ों पर उत्पादन शुल्क को रद्द किया गया। मजदूरों की यूनियनों की सुरक्षा और विकास के लिए कानून बनाए गए। भारतीयों के लिए कुछ दमनकारी कानूनों को रद्द किया गया। स्वराज पार्टी ने जनता के सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की ओर असेम्बली का ध्यान आकर्षित किया। जनता की मांगों को ब्रिटेन की पार्लियामेंट तक पहुंचाया। ब्रिटेन के हाउस ऑफ कामन्स में अक्सर स्वराज पार्टी से संबंधित सवाल पूछे जाते। केंद्रीय असेम्बली की यह सारी उपलब्धियां स्वराज पार्टी की गतिविधियों का ही परिणाम थीं। असेम्बली के अंदर स्वराज पार्टी की राजनीति अंग्रेजी शासन के संवैधानिक प्रयोग को असफल बनाने मात्र की ही नहीं थी बल्कि उसका एक सकारात्मक पहलू भी था। स्वराज पार्टी की स्थापना के समय कुछ अपरिवर्तनवादी कांग्रेसी नेताओं ने यह शक जाहिर किया था कि असेम्बली में जाकर स्वराजवादी या तो अंग्रेजी सरकार से सहयोग करेंगे या फिर निरर्थक रूप से बगैर किसी लाभ के, हर मसले पर अंग्रेजी सरकार का विरोध करेंगे। स्वराज पार्टी की उपलब्धियों की सूची इन दोनों ही शंकाओं को गलत साबित करती है।

स्वराजवादियों का राजनीतिक कार्यक्रम असेम्बली और कौंसिल प्रवेश का जरूर था। लेकिन उनकी संपूर्ण राजनीति असेम्बली और कौंसिल प्रवेश तक ही सीमित नहीं थी। देशबंधु चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू अच्छी तरह समझते थे कि सिर्फ असेम्बली के अंदर विरोध और संविधान निर्माण से ही देश में स्वराज्य नहीं आ पाएगा। उनकी परिकल्पना में असेम्बली के अंदर की स्वराजवादी राजनीति राष्ट्रवादी राजनीति का एक अंग थी। अंग्रेजी शासन के खिलाफ लड़ाई असेम्बली के बाहर भी लड़ी जानी थी और स्वराजवादी

नेता इसमें काफी आगे थे। यह एक ऐसा समय था जब सक्रिय असहयोग का एक दौर खत्म हो चुका था और सविनय अवज्ञा आंदोलन का दूसरा दौर अभी शुरू नहीं हुआ था। ऐसे में असेम्बली के बाहर अंग्रेजी शासन के खिलाफ लड़ाई चलाने का मतलब था महात्मा गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम को चालू रखना। रचनात्मक कार्यक्रम के मुख्य अंग थे, हिंदू-मुस्लिम एकता, खादी, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार और छुआछूत का विरोध। स्वराजवादियों ने इन सभी गतिविधियों में अपना योगदान दिया।

1923 और 1926 के दौरान हिंदू-मुस्लिम तनाव अपनी पराकाष्ठा पर था। देशबंधु यह अच्छी तरह से समझते थे कि हिंदू और मुसलमानों के परस्पर सहयोग के बगैर आजादी की लड़ाई कमजोर पड़ जाएगी। इसलिए उन्होंने सूझबूझ और दरियादिली दिखाते हुए बंगाल के हिंदू और मुसलमानों के बीच एक समझौते की रूपरेखा तैयार की। इसे 'बंगाल समझौता' के नाम से जाना गया। इस समझौते में दोनों ही धर्मों के अनुयायियों से यह अपील की गई थी कि वे एक-दूसरे की धार्मिक भावनाओं का सम्मान करें और राजनीति में एक-दूसरे का साथ दें। बंगाल कांग्रेस ने इस समझौते को अपनी मान्यता दी। देशबंधु के निधन तक यह समझौता बंगाल में लागू रहा।

खादी के प्रचार में भी स्वराजवादी सक्रिय रूप से शामिल रहे। हालांकि सूत कातने और खादी के राजनीतिक महत्व पर देशबंधु के महात्मा गांधी से कुछ मतभेद थे। देशबंधु चरखा चलाने और खादी की आवश्यकता पर तो सहमत थे लेकिन इसे कांग्रेसियों के लिए अनिवार्य अनुशासन बनाने के पक्ष में नहीं थे। फिर भी उनके नेतृत्व में स्वराज पार्टी ने अपने तमाम सदस्यों को खादी पहनकर ही असेम्बली और कौंसिलों में जाने का आदेश दिया। असेम्बली और कौंसिलों में स्वराजवादी खादी के प्रतिनिधि और प्रचारक के रूप में ही नजर आते थे। इसके अलावा चितरंजन दास मजदूरों की ट्रेड यूनियन को भी प्रोत्साहन देने में विश्वास रखते थे। उन्होंने अखिल

भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की अध्यक्षता की और कांग्रेसियों को मजदूर संगठनों में भाग लेने के लिए प्रेरित किया।

स्वराज पार्टी की असेम्बली के बाहर की गतिविधियां असेम्बली के अंदर की गतिविधियों जितनी असरदार नहीं थीं। लेकिन इन गतिविधियों ने स्वराजवादियों को कांग्रेस के साथ जोड़े रखा। इससे उनके और अपरिवर्तनवादियों के बीच की दूरी भी कम हुई। इसके कारण स्वराज पार्टी का कांग्रेस में विलय भी आसानी से हो सका।

स्वराज पार्टी ने आजादी की लड़ाई को एक नया आयाम दिया। 1922 तक राष्ट्रीय आंदोलन के पास अंग्रेजी सरकार से लड़ने के थोड़े से ही तौर तरीके उपलब्ध थे। 19वीं शताब्दी की लड़ाई लेखों और याचिकाओं के माध्यम से लड़ी जाती थी। 20वीं शताब्दी में महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन ने असहयोग और बहिष्कार का सहारा लिया। स्वराज पार्टी ने इसमें 'असेम्बली और कौंसिल प्रवेश' का एक नया आयाम जोड़ा। यह आयाम गांधीवादी असहयोग से अलग होते हुए भी राष्ट्रीय आंदोलन का एक हिस्सा था। वस्तुत: गांधीवादी असहयोग और स्वराजवादी राजनीति एक-दूसरे के पूरक थे। उन्होंने एक-दूसरे को मजबूती भी प्रदान की। चुनावों में स्वराजवादियों की सफलता का एक कारण यह भी था कि लोग उन्हें कांग्रेस का ही एक हिस्सा मानते थे। असेम्बली में स्वराज पार्टी ने अंग्रेजी सरकार के लोकतांत्रिक दिखावे का पर्दाफाश कर दिया। इस तरह आगे आने वाले समय में गांधीवादी आंदोलन के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार किया। स्वराजवादी गतिविधियों का अखबारों में खूब प्रचार होता था जिससे जनता में साम्राज्यवाद विरोधी चेतना और राष्ट्रीय आंदोलन की निरंतरता बनी रही।

स्वराज पार्टी के कांग्रेस में विलय होने से स्वराजवाद का अस्तित्व खत्म नहीं हुआ। आगे आने वाले समय में स्वराजवाद कांग्रेस के कार्यक्रम का अभिन्न अंग बन गया। 1934 में केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेम्बली के चुनाव स्वराज पार्टी द्वारा नहीं बल्कि कांग्रेस के द्वारा

लड़े गए। 1935 के भारत सरकार अधिनियम ने 1919 के द्वैध शासन को खत्म कर प्रांतों में पूरी तरह से जनता द्वारा चुनी गई सरकार की व्यवस्था की। साथ ही सरकार द्वारा मनोनीत सदस्यों के प्रावधान को भी खत्म कर दिया। अब प्रांतों का प्रशासन जनता द्वारा चुने हुए विधायकों को ही चलाना था। कांग्रेस ने इस अवसर का पूरा लाभ उठाते हुए सभी प्रांतों में चुनाव लड़ा। जिन प्रांतों में उसे बहुमत मिला वहां सरकार भी बनाई। यहां पर स्वराज पार्टी का अनुभव काफी काम आया और कई पुराने स्वराजवादियों ने प्रांतों का प्रशासन संभाला। 1937 में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री बने गोविन्द वल्लभ पंत 1926 में उत्तर प्रदेश कौंसिल के स्वराजवादी सदस्य रह चुके थे। इस तरह से असेम्बली प्रवेश की स्वराजवादी राजनीति स्वराज पार्टी के विलय के बाद और भी मुख्य रूप से राष्ट्रीय आंदोलन में सामने आई। स्वतंत्रता प्राप्ति तक यह राष्ट्रीय आंदोलन का हिस्सा बनी रही।

स्वराजवादी राजनीति बुनियादी तौर पर विकल्प की राजनीति थी। स्वराज पार्टी ने अंग्रेजी संवैधानिकता का जवाब अराजकता से न देकर स्वराजवादी संवैधानिकता से दिया। अंग्रेजी सरकार से यह संवैधानिक लड़ाई उन्हीं के मैदान पर लड़ी गई। इसने न केवल अंग्रेजों को उन्हीं के खेल में मात दी बल्कि स्वतंत्र भारत की एक लोकतांत्रिक बुनियाद रखने में भी मदद की। स्वतंत्र भारत के लोकतांत्रिक विकास की शुरुआत 1947 के बाद नहीं हुई बल्कि उसका बीज 1920 के दशक में ही पड़ गया था। इससे भारतीयों को लोकतंत्र और संसदीय प्रणाली का प्रशिक्षण भी मिला।

दुर्भाग्य से स्वराज पार्टी के निर्माता अपने जीवन काल में स्वराजवाद की मुख्य उपलब्धियों को नहीं देख सके। देशबंधु चितरंजन दास का निधन 1925 में हुआ और मोतीलाल नेहरू का 1931 में। उस समय तक स्वराजवाद को एक संक्षिप्त हस्तक्षेप या एक अस्थायी

राजनीतिक औजार के रूप में देखा जाता था। 1926 के चुनावों में स्वराज पार्टी का प्रदर्शन बहुत अच्छा नहीं रहा था। पार्टी के कई सदस्यों का स्वराजवाद से मोहभंग भी हो गया था। कांग्रेस के बड़े नेता तब तक स्वराजवाद की राजनीतिक प्रासंगिकता को लेकर बहुत आश्वस्त नहीं थे। कुछ लोग स्वराजवाद को एक राजनीतिक भूल से ज्यादा कुछ नहीं समझते थे। नेहरू रिपोर्ट को सर्वसम्मति से स्वीकार नहीं किया गया था। परिणामस्वरूप पार्टी के निर्माताओं ने अपने स्वराजवादी प्रयोग की प्रासंगिकता पर निश्चित रूप से प्रश्न चिह्न लगाया होगा। क्या वे अपनी राजनीति में असफल हो गए थे? क्या असफलता ही राष्ट्रीय आंदोलन के लिए उनका योगदान था? क्या भविष्य में छिपी हुई सफलता और उपलब्धियों का उन्हें अहसास था? क्या हर बड़ी सफलता असफलता के गर्भ से ही जन्म लेती है?

प्रसिद्ध देशभक्त गोपाल कृष्ण गोखले का यह कथन शायद स्वराज पार्टी के निर्माताओं देशबंधु चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू की अंतर्दशा और मन:स्थिति पर और साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन में स्वराज पार्टी की भूमिका पर एक उपयुक्त टिप्पणी है, ''हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हम देश की प्रगति की उस मंजिल से गुजर रहे हैं जहां हमारी उपलब्धियों का छोटा होना हमारी मजबूरी है और हमें बराबर असफलताओं का मुंह देखना पड़ता है। इस संघर्ष में शायद यही हमारी नियति है। समय ने जो काम हमें सौंपा था उसे पूरा करने के साथ हमारी जिम्मेदारी समाप्त हो जाती है। निस्संदेह यह देश की भावी पीढ़ियों पर है कि अपनी सफलताओं से भारत की सेवा करें। मौजूदा पीढ़ी के हम लोगों को अपनी असफलताओं के जरिए देश की सेवा करते रहने में ही संतोष करना चाहिए। लेकिन इन असफलताओं में ही वह शक्ति छुपी है जिससे आगे आने वाली पीढ़ियां महान लक्ष्यों को प्राप्त कर सकेंगी।''

शिवम् ऑफसैट प्रेस, ए-12/1, नरायणा इंडिस्ट्रयल एरिया, फेज-1, नई दिल्ली 110028 द्वारा मुद्रित